(5.4)

प्राण विज्ञान

आत्मा और परमात्मा

६०)

प्राण-विज्ञान
(SCIENCE OF VITAL FORCE)

प्राण-विज्ञान

(SCIENCE OF VITAL FORCE)

प्राण के द्वारा
आत्मा और परमात्मा के साक्षात्कार का
नया अनुसन्धान

प्रणेता
आत्मवित् योगीप्रवर हठयोगराजयोगाचार्य
ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मर्षि श्री १०८ स्वामी योगेश्वरानन्द
सरस्वती जी महाराज

[रचयिता बहिरंग-योग, आत्म-विज्ञान, ब्रह्म-विज्ञान, निर्गुणब्रह्म,
दिव्य ज्योति विज्ञान]

प्रकाशक
योग निकेतन ट्रस्ट
३०-ए/७८, पंजाबी बाग, देहली-२६
(भारत)
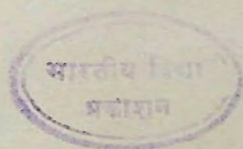
पुस्तक मिलने का पता :
योग निकेतन ट्रस्ट,
३०-ए/७८, पंजाबी बाग,
देहली-११००२६
(भारत)

द्वितीय संस्करण
सन् १९८१ वि० सं० २०३८
मूल्य [illegible] रुपये

मुद्रक :
कैपिटल ऑफसैट प्रिन्टर्स,
जामा मस्जिद के पास,
देहली-११०००२
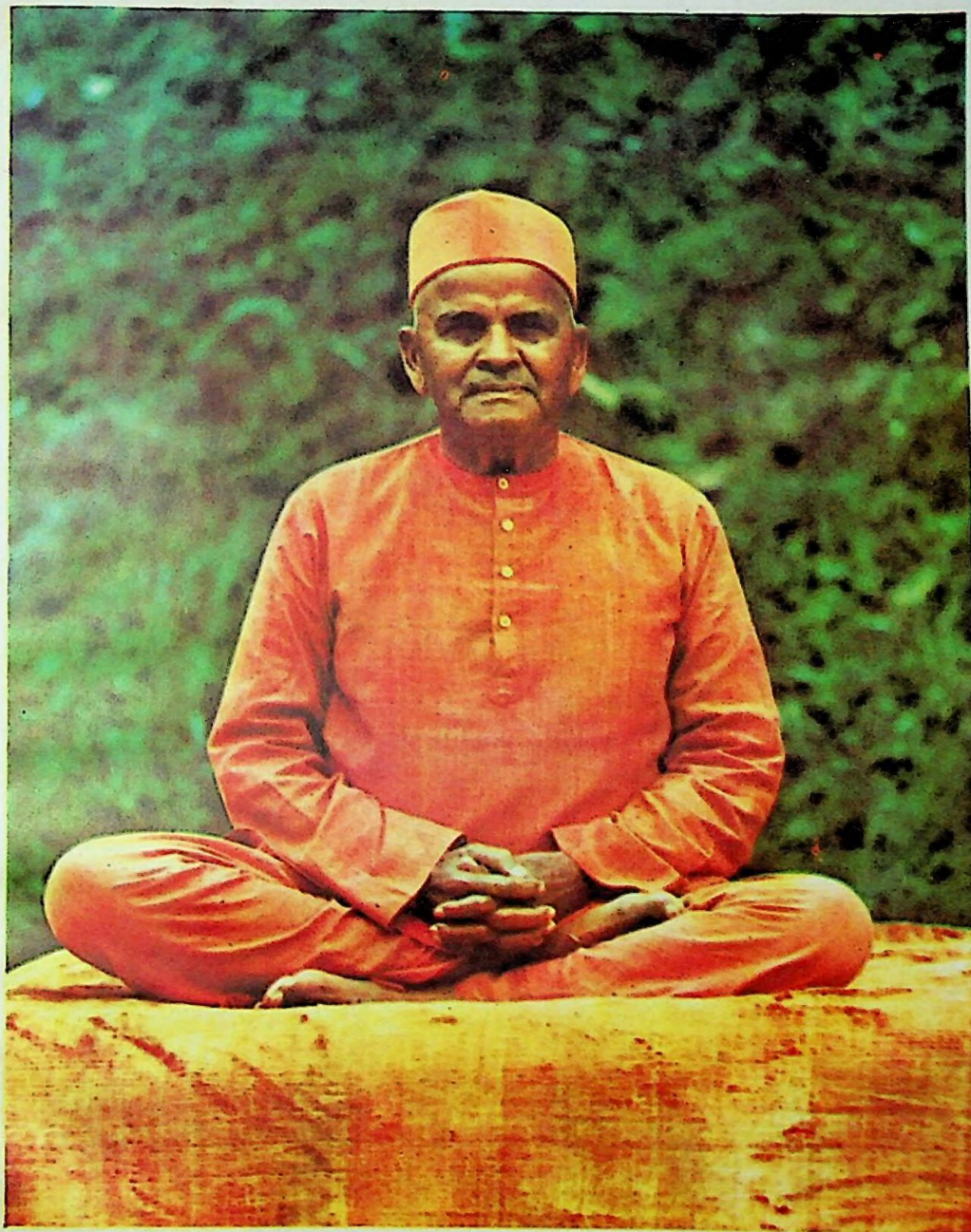
श्री १०८ स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज
Shri 108 Swami Yogeshwaranand Saraswati Ji Maharaj

ओ३म्

प्रकाशक (योग निकेतन ट्रस्ट, देहली) की ओर से

प्रातःवन्दनीय पूज्यपाद श्री १०८ परम तत्त्वज्ञानी सूक्ष्मदर्शी योग पारंगत आत्मज्ञानी स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज ने प्राण-विज्ञान नाम का अद्वितीय ग्रन्थ संसार के लोगों के उद्धारार्थ रचा है। इस प्रकार का प्राण का ज्ञान आज तक किसी भी विद्वान् ने संसार के लिये प्रदान नहीं किया है। श्री महाराज ने इस अमूल्य ग्रन्थ को रचकर संसार के लोगों का महान् उपकार किया है। इस ग्रन्थ में आपकी प्रतिभा, दूरदर्शिता एवं सूक्ष्मदर्शिता को देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है। प्राण के विषय में आपकी खोज अद्वितीय और प्रशंसनीय है। अब प्राण के द्वारा समस्त संसार के लोग आत्मदर्शन और ब्रह्म प्रत्यक्ष या दर्शन स्पर्शन किया करेंगे। आप के रचित ग्रन्थों में यह पांचवाँ ग्रन्थ है। प्राण के विज्ञान के विषय में इतना बृहद् वर्णन आज तक किसी भी संसार के ग्रन्थ में देखने और पढ़ने में नहीं आया था। आप इस युग के महान् योगियों में से हैं। आप के सब ग्रन्थ योग और अध्यात्मज्ञान के विषय में ही लिखे गये हैं। प्रत्येक ग्रन्थ में अद्भुत विज्ञान और विचित्र शैली है। प्रत्येक ग्रन्थ में हर एक विषय को आदि से लेकर अन्त तक क्रमपूर्वक शृङ्खलावद्ध वर्णन किया है।

इस ग्रन्थ में ७० प्रकार के प्राणों द्वारा आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान के साक्षात्कार के उपायों और विधियों का विषद् वर्णन किया है। यह आप की नितान्त नवीनतम खोज है।

हमारे पास ऐसे शब्द नहीं हैं कि जिन से आप की सूक्ष्मदर्शिता और कुशाग्र मेधा का वर्णन किया जाय। आप तीन बार विश्व में भ्रमण करते हुए इस अद्वितीय विज्ञान का प्रचार और प्रसार करते रहे हैं। योरुप, अमेरिका और एशिया के सब देशों में अध्यात्मज्ञान और योग के प्रचार की वीणा वजाकर आपने लाखों लोगों को सुनाकर उनका महान् उपकार और कल्याण किया है। हमें पूर्ण आशा और विश्वास है कि वे भविष्य में भी, इस प्रकार के सारगर्भित, विवेकपूर्ण, भवपाश से मुक्त करने वाले ग्रन्थ लिखकर संसार के लोगों में दिव्यालोक उत्पन्न करते रहेंगे। आप इस युग के महान् तत्त्व-दर्शी जगत् उद्धारक आत्म-ज्ञानी महर्षि हैं। आप के अनेक गुणों को वर्णन करने या लिखने की शक्ति हमारे में नहीं है। अतः हमारा आपके श्रीचरणों में पुनः पुनः नमस्कार है। इत्यलम् !

● योग निकेतन ट्रस्ट, देहली

शुभकामना और आशीर्वाद

स्वर्गीय श्रीमती पन्ना देवी जी धर्मपत्नी श्री सेठ गोपाल दास जी अग्रवाल भूत-पूर्व अमृतसर निवासी वर्तमान में बम्बई निवासी की पुण्य स्मृति में योगनिकेतन देहली की आज्ञा से इस प्राण विज्ञान ग्रन्थ का प्रकाशन कराया जा रहा है। इसका खर्च श्री सेठ देवकुमार जी अग्रवाल सुपुत्र श्री सेठ गोपाल दास जी अग्रवाल ने अपने गोपाल दास धर्मार्थ ट्रस्ट से दिया है। इस खर्च से २२०० पुस्तकें छपाई जा रही हैं। इस परिवार के साथ मेरा गुरु शिष्य का सम्बन्ध सन् १६२० से चला आ रहा है। ६० वर्ष से श्री देवीदयाल के परिवार को मैं बहुत फलते फूलते देख रहा हूँ। मेरी प्रेरणा और आशीर्वाद से श्री सेठ देवीदयाल के सुपुत्र श्री तुलसीराम जी अग्रवाल अमृतसर पंजाब से बम्बई में व्यापार करने आए थे जो कि श्रीमती पन्ना देवी के ससुर थे। श्री देवी दयाल तुलसीराम एण्ड सन्स कम्पनी की आधार शिला रेई रोड दारुखाना में मैंने स्वयं अपने हाथों से रखी थी और साथ में आशीर्वाद दिया था कि सैकड़ों वर्षों तक यह कम्पनी फलती फूलती रहेगी। वर्तमान में इसकी कई ब्रांचें बनी हुई हैं और हज़ारों मनुष्यों का लाभ और पालन पोषण हो रहा है। ये देवीदयाल एण्ड सन्स वाले अरबों की सम्पत्ति के मालिक हैं। सर्व प्रकार से सुखी हैं।

श्रीमती पन्ना देवी अमृतसर पंजाब में एक बहुत बड़े सम्पन्न परिवार की पुत्री थीं। यह बड़ी धर्मात्मा पतिव्रता सती साध्वी सरल नम्र स्वभाव दानशील देवी थीं। आपने पाँच पुत्रों और दो पुत्रियों को जन्म दिया। श्री देवकुमार, श्याम कुमार, राज कुमार, विजय कुमार, सुशील कुमार, विमला और निर्मला। श्री देवकुमार जी के पुत्र योगेश और अनुराधा, संगीता पुत्री। श्यामसुन्दर जी के पुत्र विक्रम और पुत्री विनीता। राजकुमार जी के पुत्र अतुल, उदय, मनीश। विजय कुमार जी के पुत्र अजय और शालिनी पुत्री। सुशील कुमार जी के पुत्र निखिल और पुत्री अर्चना तथा नम्रता। विमला जी के ७ पुत्र और एक पुत्री एवं निर्मला जी के दो पुत्र और एक पुत्री हैं।

श्रीमती पन्ना देवी जी के पति श्री सेठ गोपाल दास जी बड़े धनवान सम्पन्न धर्मात्मा उदार सज्जन पुरुष हैं। आपने अपने सब पुत्रों को एक-एक फैक्ट्री और एक-एक फ्लैट रहने वास्ते देकर सबको अलग-अलग कर दिया है। एक अपना धर्मार्थ ट्रस्ट भी बना दिया है। उसी में से यह प्राण विज्ञान पुस्तक के प्रकाशन का रुपया श्री सेठ देव कुमार जी ने दिया है। श्री सेठ गोपाल दास जी सब कारोबार से निवृत्त होकर अपने बड़े पुत्र श्री देवकुमार जी के पास रहकर ज्ञान वैराग्य की भावना से सब ओर से उपराम होकर जीवन-मुक्तों के समान सुख शान्ति और आनन्द से आत्म-चिन्तन और ईश्वर-भक्ति में लगे रहते हैं। स्वर्गीय श्रीमती पन्ना देवी की आत्मा के लिए मैं भगवान से पूर्ण सुख शान्ति और आनन्द के लिए प्रार्थना करता हूँ। भगवान आप का कल्याण करें।

शुभचिन्तक
स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती
प्रधान, योग निकेतन ट्रस्ट,
३० ए/७८, पंजाबी बाग, देहली-२६

स्व० श्रीमती पन्ना देवी गोपाल दास अग्रवाल

शुभ कामना और आशीर्वाद

स्वर्गीय श्रीमती पन्ना देवी जी धर्म पत्नी सेठ गोपाल दास जी अग्रवाल भूतपूर्व अमृतसर, पंजाब, वर्तमान बम्बई निवासी की पुण्य स्मृति में, योग निकेतन देहली की आज्ञा से इस प्राणाविज्ञान ग्रन्थ का प्रकाशन कराया जा रहा है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सब खर्च श्री सेठ देव कुमार जी ने जो आपके सबसे बड़े पुत्र हैं। अपने गोपाल दास धर्मार्थ ट्रस्ट से दिया है।

इनके खर्च से दो हजार पुस्तकें छपवाई जा रही हैं। इस परिवार के साथ मेरा गुरु शिष्य का सम्बन्ध सन् १६२० से चला आ रहा है। ६० वर्ष से मैं देवी दयाल के परिवार को बहुत फलते फूलते देख रहा हूं। मेरी प्रेरणा से सेठ तुलसीराम जी जो सेठ देवीदयाल जी के बड़े पुत्र थे बम्बई में अमृतसर से व्योपार करने गऐ थे। जो श्रीमती पन्ना देवी जी के स्वसुर थे, श्री सेठ देवीदयाल तुलसीराम एण्ड सन्स के नाम से इनकी कम्पनी की आधार शिला रेई रोड़ दारु खाना में मैंने स्वयं अपने हाथों से रक्खी थी, और आशीर्वाद दिया था कि यह कम्पनी सैंकड़ों वर्षों तक फलती फूलती रहेगी। वर्तमान में इसकी कई ब्रांचें बनी हुई हैं और हजारों मनुष्यों को लाभ और पालन पोषण उनके द्वारा हो रहा है। ये देवी दयाल वाले अर्बों रुपयों की सम्पत्ति के मालिक बने हुए हैं।

श्रीमती पन्ना देवी अमृतसर में एक बड़े धनी सम्पन्न परिवार की पुत्री थी, बड़ी धर्मात्मा पतिव्रता सति साध्वी सरल और नम्र स्वभाव की दान शील देवी थी, श्रीमती पन्ना देवी जी ने पांच पुत्रों और दो पुत्रियों को जन्म दिया था। आपके सबसे बड़े पुत्र सेठ देव कुमार जी अग्रवाल हैं। श्री श्यामसुन्दर जी श्री राजकुमार जी श्री विजय कुमार श्री सुशील कुमार जी पुत्री श्री विमला और श्री निर्मला देवी हैं।

श्रीमती पन्ना देवी जी के पति सेठ गोपाल दास जी अग्रवाल बड़े सज्जन धर्मात्मा दान शील पुरुष हैं। आपने अपने सब पुत्रों को अलग २ फक्ट्रीयां लगाकर देदी हैं। सबको अलग फ्लैट भी बना कर दे दिये हैं। अपनी सम्पत्ति को पुत्रों में बांट कर दे दिया है। एक धर्मार्थ ट्रस्ट भी बना दिया है। उस धर्माथ ट्रस्ट से ही यह रुपया पुस्तक प्रकाशन के लिये दिया है।

श्री सेठ गोपालदास जी सब कारोबार से रिटायर होकर, अपने सुपुत्र देव कुमार जी के पास में रहते हुए उपराम और वैराग्य की भावना से जीवन मुक्तों के समान सुख शान्ति का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। स्वर्गीय श्रीमती पन्ना देवी की आत्मा के लिये हार्दिक शुभ कामना और आशीर्वाद दे रहा हूं, वे दिव्य सुख शान्ति और आन्नद का उपभोग करे और भगवान से प्रार्थना भी करता हूँ।

शुभचिन्तक

स्वामी योगेश्वरा नन्द सरस्वती

प्रधान, योग नि तन ट्रस्ट ३०ए/७८
पंजाबी बाग, नई देहली-२६

आमुख

प्राण तत्त्व को सामान्यतया लौकिक तथा पारलौकिक दोनों क्षेत्रों में विशेष महत्व दिया गया है। इस पर जितना मनन, चिन्तन, अध्ययन और अनुसन्धान प्राचीन भारतीय मुनियों, योगियों और सन्तों ने किया था उतना कदाचित् ही अन्यत्र कहीं किया गया होगा। वास्तव में प्राण-विज्ञान और प्राणोपासना भारत की अपनी विचित्र बौद्धिक देन है। यह अत्यन्त प्राचीन विद्या है।

मानव सभ्यता तथा सूक्ष्म चिन्तन के इतिहासज्ञों द्वारा विश्व के पुस्तकालयों में वेद सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में तो प्राण-शक्ति का विशेष उल्लेख मिलता है। प्रश्नोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, ऐतरेयारण्यक के प्रथम तीन अध्यायों में तथा वेदान्त दर्शन के प्रारम्भ में ही इस तत्त्व का सारगर्भित संकेत है। बृहदारण्यकोपनिषद् के कथनानुसार भी प्राण में चेतनारूपी कम्पन होने से ही उसे प्राण नाम से अभिहित किया गया है। ब्रह्म-विद्या परक अथर्ववेद में तो ११वें काण्ड के दूसरे अध्याय के अन्तर्गत २६ मन्त्रों का पूरा सूक्त ही प्राण के बड़े सुन्दर विशद व्याख्यान से ओत-प्रोत है। उक्त सूक्त के प्रथम मन्त्र के भावपूर्ण शब्दों में—वह जगत् व्यापी प्राण नमस्य है, उपास्य है क्योंकि समस्त संसार उसी के आधार पर अधिष्ठित है। वह सबका शासक है, स्वामी है, प्राणी-मात्र उसी के आश्रय से जीवन धारण कर रहा है। उसी में सर्वभूत प्रतिष्ठित हैं। ईश्वर में ही सम्पूर्ण जगत् ठहरा हुआ है, प्रतिष्ठित है। जीवनोद्‌गम प्राण प्रेरक वही सर्वभूतों के भी भूतेश्वर हैं। इस प्रकार भौतिक प्राण तथा प्राणाधिप्राण दोनों ही ब्रह्माण्ड में गति-मात्र तथा कम्पन का साधारण और असाधारण हेतु बने हुए हैं। सारा जीव-जगत् प्राणों के वशीभूत है और कम्पनशील प्राण में ही स्थित है। वह सर्वव्यापी चेतन आत्मा इन प्राणों का भी प्राण है और चक्षु का भी ज्योति-प्रद चक्षु[1] है फिर भी वह समस्त जगदवलम्बी इन कार्यों का उपादान कारण नहीं अपितु केवल सान्निध्य मात्र से निमित्त कारण है। वह "सूर्य आत्मा" भगवान् सर्वव्यापकत्वेन सर्वत्र ही गति का हेतु है। प्राण ही अखिल जीवन-सार और गति का एकमात्र हेतु

(१) "प्राणस्य प्राणमुतचक्षुषश्चचक्षुरुत"।

बृहदारण्यक ४–४–१८

बना हुआ है। इस भांति अव्यक्त तथा अभिव्यक्त दोनों रूपों में गतिमान् प्राण ही अखिल जीवन-सार और गति का एकमात्र हेतु है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में प्राण की उत्पत्ति का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में महत्तम की सृष्टि में प्राण की उत्पत्ति का निरूपण है। तीसरे अध्याय में अहंकार की सृष्टि के अन्तर्गत प्राण का महत्व दर्शाया गया है। चतुर्थ अध्याय में स्थूल भूतों की सृष्टि में वायु से उत्पन्न तीस प्रकार के प्राणों की उत्पत्ति का कथन है। पांचवे अध्याय में स्थूल भूतों की सृष्टि में वायुगत तीस प्रकार के प्राणों का साक्षात्कार बताया गया है। छठे अध्याय में सूक्ष्म शरीरस्थ तीस प्रकार के प्राणों के साक्षात्कार का ब्यौरा है। सातवें अध्याय में कारण शरीर सम्बन्धी तीन प्रकार के प्राणों के साक्षात्कार के उपाय विहित हैं और नौ प्रकार के समष्टि प्राणों की उत्पत्ति तथा साक्षात्कार का विज्ञान है। कारण शरीर में आत्मसाक्षात्कार का विधान भी उसी सन्दर्भ में बताया गया है। इसी प्रकार अन्त में आठवें अध्याय में समस्त जगत् के कारणरूप अव्यक्त प्रकृति की साम्यावस्था में सूक्ष्मतम प्राण की सूक्ष्म क्रिया और उसका साक्षात्कार एवं प्रकृति और ब्रह्म के प्रत्यक्ष का वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ में आत्मा और परमात्मा के साक्षात्कार के उपाय प्राण के माध्यम से ही अभीष्ट हैं। जिस प्रकार ज्योति द्वारा आत्म-प्रत्यक्ष के विज्ञान का "आत्म-विज्ञान" आदि हमारे ग्रन्थों में विस्तार-पूर्वक उल्लेख है उसी प्रकार इस "प्राण-विज्ञान" ग्रन्थ में प्राण द्वारा आत्मा और ब्रह्म को स्पर्श करके प्राण को ही उनके साक्षात्कार का साधन प्रतिपादित किया गया है। प्राण को ही जीवन का आधार एवं गति का आश्रय और हेतु माना है। आधुनिक युग में प्राण तत्त्व-विज्ञान दुर्भाग्यवशात् बहुत काल से प्रसुप्त अथवा लुप्तप्राय सा रहा है। उपनिषद्काल में तो प्राण-विद्या को विशेष महत्ता दी जाती थी और सदियों तक उसका महत्व रहा। पर अब लुप्त है। उसी लुप्त और गुप्त ज्ञान का इस "प्राण-विज्ञान" ग्रन्थ द्वारा पुनरुद्धार किया गया है। इसमें प्राण-विज्ञान सम्बन्धी अनेक रहस्यपूर्ण विषयों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है और समझाया गया है।

अब तक तो हमारे योगाभ्यासी केवल ज्योति के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार करते रहे हैं परन्तु अब प्रज्ञाचक्षु जिज्ञासुवृन्द भी हमारे इस 'प्राण-विज्ञान" द्वारा आत्मा और ब्रह्म का साक्षात्कार करने में समर्थ हो सकेंगे—ऐसी आशा हम करते हैं। इस "प्राण-विज्ञान" ग्रन्थ की विशेष उपादेयता यह होगी कि आगे भविष्य में मनुष्य-मात्र

अपनी आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करके एवं आत्म-दर्शन तथा ब्रह्मसाक्षात्कार करके मोक्ष प्राप्त कर सकेंगे।

प्राण-तत्व निर्देशनात्मक इस ग्रन्थ में सत्तर प्रकार के प्राणों को मुख्य-मुख्य पांच क्षेत्रों में अवधारित किया गया है। पञ्च भूतात्मक नैसर्गिक सृष्टि में तीस प्रकार के स्थूल प्राण-कार्य करते हैं तथा स्थूल शरीर में यही कार्यरत रहते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म जगत् की सृष्टि में और सूक्ष्म शरीर में भी तीस ही प्रकार के प्राण-कार्यरत हैं। महत्तत्त्व की सृष्टि में तथा कारण शरीर में केवल तीन प्रकार के प्राण— सात्विक, राजस् और तामस् भेद से कार्यसंलग्न हैं अर्थात् कार्यशील हैं। इसके बाद चौथे क्षेत्र में प्राकृतिक सृष्टि के समष्टिगत ६ पदार्थों में भी उसी प्रकार प्रत्येक में सूक्ष्म-प्राण तत्सम्बन्धी गति के हेतु रूप में विद्यमान् हैं। पांचवें क्षेत्र में प्रकृति की अन्तिम साम्यावस्था में एक और अत्यन्त सूक्ष्मतम प्राण है जो नितान्त सूक्ष्म रूप में कार्य करता रहता है। वह समान रूप से प्रकृति में कम से कम ४ अरब वर्ष तक आद्योपान्त गति का हेतु बना रहता है। इन सत्तर प्रकार के उत्तरोत्तर सूक्ष्म तथा स्थूल प्राणों के आधार पर ही इस क्षुद्र ब्रह्माण्ड रूपी मानव पिण्ड (शरीर) का और समष्टि अर्थात् विराट् ब्रह्माण्ड का संचालन हो रहा है। इन दोनों स्तरों पर कम्पनशील प्राण ही समस्त गति और क्रिया का उद्गम तथा हेतु है।

इस ग्रन्थ में प्रयुक्त शरीर पद से तात्पर्य तीनों शरीरों का अभीष्ट हैं और ब्रह्माण्ड पद से यहाँ मूलप्रकृति तथा उसके समग्र विशिष्ट कार्यों का अभिप्रेत है।

स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती

ॐ

प्राण-विज्ञान

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ-संख्या

विषय पृष्ठ-संख्या

विषय		पृष्ठ-संख्या

प्राण-विज्ञान

चित्र-सूची

प्राण-विज्ञान

प्रथमोऽध्यायः

प्राण की उत्पत्ति

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वेश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।

—अथर्व वेद ११-४-१

अर्थ—हे प्राण तू जगदाधार है, तुझे हमारा नमस्कार है। तू ही सब लोक लोकान्तरों का प्रकाशक है। तू ही समस्त सृष्टि का आधार है।

अन्यच्च—

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातोह प्राण उच्यते ।
प्राणो ह भूतं भव्यञ्च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।

—अथर्व वेद ११-४-१५

अर्थ—प्राण जीवनदाता है। समस्त आकाश में वायुरूपेण व्यापक है। भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों काल उसमें ही स्थित हैं।

अथर्व वेद का यह सम्पूर्ण सूक्त प्राण विषयक महिमा का गान करता है। प्राण क्या है? कहां से इसकी उत्पत्ति हुई? कैसे यह मानव जीवन का आधार बना हुआ है? मनुष्य में स्वभावतः इसके विषय में विस्तारपूर्वक जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। शरीर में प्राण के कार्य को प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। प्रत्येक जीवधारी में प्राणशक्ति ही उसे संचालित कर रही है। पंचभूतों में वायु महाभूत शरीर की रचना में सहकारी उपादान कारण है। इसका प्रधान गुण या धर्म प्राणिमात्र को गतिशील बनाना है। इससे स्पष्ट है कि शरीर में वायु प्राण के रूप में प्रविष्ट होकर सर्व क्रिया, कर्म या गति का हेतु बना हुआ होता है। शरीरस्थ चेतन आत्मा के अनन्तर यदि प्राण को जीवन का आधार कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इसमे यह शंका हो

सकती है कि यदि वायु को ही प्राण मानें तो वायु तो जड़ मृत्तिका व भूमि में भी विद्यमान है, उसमें भी जीवन का आधार क्यों नहीं बन जाती ? उत्तर यह है कि भूमि में मनुष्य के समान जीवन नहीं होता और मनुष्य की भांति उसमें कार्य और ज्ञान नहीं होता। भूमि में ज्ञान भले ही न हो परन्तु कर्म और गति तो उसमें भी बनी ही रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य में ज्ञान रूपी गुण या धर्म-विशेष किसी अन्य सत्ता का ही होता है। जब तक शरीर में प्राणशक्ति गतिमान् रहती है तब तक इसमें प्रत्येक अवस्था में गति बनी रहती है। प्राण के बिना शरीर को मुर्दा एवं जीवनरहित समझा जाता है। यह इस बात का परिचायक है कि प्राण ही प्राणीमात्र में जीवन का प्रधान साधन है। किन्तु यदि प्राण को जीवन का एकमात्र साधन समझें तो फिर जीवात्मा की आवश्यकता नहीं रहती। उस अवस्था में प्राण को चेतन तत्व मानना पड़ेगा। पर प्राण तो वायु का कार्य है क्योंकि उससे उत्पन्न होता है अतः उत्पत्तिधर्मा होने से अनित्य है। जिस प्रकार अन्य चारों भूत जड़ हैं वैसे ही प्राण भी वायु-भूत का कार्य होने से अचेतन ही सिद्ध होता है। जड़ से जड़ की ही उत्पत्ति होती है। स्वभाव से गतिशील होने से इसे शरीर में कर्म, क्रिया, व्यापार अथवा गति का कारण कहा जाता है परन्तु केवल गतिशील होने से ही तो चेतन नहीं माना जा सकता। मोटर और वायुयान में भी तो गति देखने में आती है किन्तु वह सब जड़ हैं और मनुष्य के ही बनाए हुए हैं और अन्ततोगत्वा उसके द्वारा ही गति का आरोह व अवरोधात्मक प्रयोग संभव होता है। मनुष्य शरीर में जिस प्रकार की चेतना अथवा जीवनशक्ति, वृद्धि-ह्रास, उत्पत्ति-विनाश, ज्ञान और अज्ञान देखने में आते हैं वैसे गुण वायुयान, मोटर आदि में नहीं पाए जाते। यंत्रों और मानव शरीर के उपादान कारणों में बहुत अन्तर है। मनुष्य में प्राण के पीछे कोई अन्य शक्ति होनी चाहिए जो ज्ञानपूर्वक कर्म कराने में समर्थ हो। यह ठीक है कि वायु मानव शरीर में प्राण के रूप में स्थित है और शरीर में क्रिया का हेतु बना हुआ है। किन्तु केवल क्रियामात्र कार्य या ज्ञान का हेतु नहीं हो सकती। क्रिया तो सब यन्त्रों और सब भूतों में भी देखने में आती है किन्तु अचेतन सम्बन्धी क्रिया में ज्ञान का अभाव रहता है। जिस काल में माता-पिता के संयोग से गर्भ का आधान होता है तब रज और वीर्य संयोग को प्राप्त होकर शरीर निर्माण करते हैं और प्राण के रूप में वायु परिणत होकर शिशु के शरीर का सहकारी उपादान कारण बनता है। पृथ्वी और जल से उत्पन्न खाद्य और पेय पदार्थों से ही स्त्री और पुरुष के शरीरों में रज और वीर्य बनते हैं। शरीर में यह अन्तिम सातवीं धातु है। प्रधानतः तो ये दोनों ही नूतन शरीर पिण्ड के उपादान कारण सिद्ध होते हैं तथा अग्नि और वायु से उत्पन्न तेज और प्राण इनके सहकारी बनते हैं। इसी प्रकार आकाश भी

शब्द के रूप में परिणत होकर सहकारी उपादान कारण बनता है। ये पांचों भूत भौतिक देह के उपादान कारण हैं। वायु भी प्राण के रूप में परिणत होकर शरीर में गति, कर्म और क्रियादि व्यापारों का कारण बना हुआ है। मानव शरीर में स्थानभेद से प्राण की दश विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति होती है और वह स्थानभेदानुकूल ही भिन्न-भिन्न कार्य करता है। इसके भेदों का वर्णन 'आत्म-विज्ञान' और 'हिमालय-का-योगी' नामक ग्रंथों में किया गया है। वैयक्तिक शरीरस्थ प्राण में ही संपूर्ण जीवन का संचार करने की क्षमता है। शरीर के जिस किसी भाग में किसी प्रत्याघात विशेष से जब गति रुक जाती है तो वहां रुधिर और तेज का प्रवाह भी रुक जाता है। रुधिर जल का परिणाम विशेष होकर जीवन का सहायक बना हुआ है। यह शरीरगत प्राण बाह्य वायु के आहार से ही पुष्ट होकर जीवन का पोषक है। यदि इसे अपने उपादान कारण रूप वायु का निरन्तर आहार न मिले तो प्राणधारी का मरण हो जाता है। इस भांति प्राण से आहार ग्रहण करके प्राणी शक्तिमान् बना रहता है। यदि हम अपने नाक अथवा मुख को वन्द करलें तो शरीरस्थ प्राण तड़फने लगता है और अपने उपादान कारण में मिलने के लिए बाहर गमन करने का यत्न करने लगता है। बाह्य वायु के साथ इसका सम्बन्ध नितान्त आवश्यक है। यह सम्बन्ध २४ घण्टे बना रहना चाहिए। इसे वायु से शक्ति मिलना आवश्यक है। यह शरीरस्थ प्राण बाह्य वायु की अपेक्षा रखता है। यह वायु की कार्यात्मक परिणत होती हुई अवस्था है। स्थूल शरीरस्थ अस्थियां, मांसपेशियां आदि पृथिवी महाभूत के ही कार्य हैं। सब उसी की परिणत होती हुई विभिन्न अवस्थाएं हैं। अन्न, औषधि, वनस्पति आदि भी पृथिवी तत्त्व की परिणत होती हुई अवस्थाओं के परिणाम हैं। इसी प्रकार प्राण भी वायु की एक परिणत होती हुई अवस्था है। प्राण की अपनी ये अवस्थाएं ही 'पञ्च प्राण' हैं और उनकी भी परिणत अवस्थाएं 'पञ्चउपप्राण' हैं। ये सब प्राण और उपप्राण मिलकर शरीर में जीवन का प्रसार करते रहते हैं। जब ये अपना कार्य सम्पादन सुचारु रूप से करते रहते हैं तो शरीर के सर्वव्यापार भी विधिवत् चलते रहते हैं। वायु महाभूत का अन्तिम परिणाम मानव शरीर में आकर समाप्त होता है। प्राण जीवन का मूल आधार है और शरीर में इसके रहते ही भोग और अपवर्ग का संपादन संभव है। स्थूल इन्द्रियों के सारे व्यापार प्राणों पर ही अवलम्बित हैं। सुषुप्ति की अवस्था में इन्द्रियों के सब व्यापार विलीन हो जाने की स्थिति में भी प्राण अपना कार्य करता रहता है। वह सतत जागरूक रहता हुआ अहर्निश अपने जीवनप्रदानरूप व्यापार में संलग्न रहता है। शरीर की सब चेष्टाए प्राण के आधार पर ही हुआ करती हैं और वे सुषुप्ति और मूर्च्छावस्था में भी होती रहती हैं। प्राण अविरलरूपेण सदा

रजः प्रधान तत्त्व है और रजोगुण का स्वभाव क्रियामय है अतः उसमें गति सदैव बनी रहती है। इसी गति द्वारा प्रसारित वल से शरीर जीवित व स्वस्थ रहता है। गर्भस्थ पिण्ड के संवर्धन तथा विकास का प्रेरक भी प्राण ही होता है। माता के गर्भ में बालक की वृद्धि के विषय में विद्वानों के परस्पर मतभेद हैं। कुछ विद्वान् तो आत्मा के प्रवेश के साथ ही कारण शरीर की वृद्धि मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि गर्भाधान के समय रज और वीर्य के संयोग के अन्तर्गत शिशु का शरीर एक कीटाणु से विकास भाव को प्राप्त होता है, शेष कीटाणु विनष्ट हो जाते हैं। एक कीटाणु से विकास हो अथवा समस्त द्रव्य कललभाव को प्राप्त होकर शरीर के निर्माण में उपादान कारण बने परन्तु दोनों स्थितियों के अन्तर्गत शरीर के विकास में प्राण की प्रधानता माननी ही पड़ेगी। जन्म के उपरान्त प्रत्येक प्राणी का जीवनाधार प्राण ही होता है। उससे पूर्व भी बालक के गर्भाधीन विकास का सम्प्रेरक प्राण को ही क्यों न मान लिया जाए? यदि गर्भावस्था में बालक की माता के प्राणों को उसके जीवन और विकास का साधन मानते हैं तो गर्भमुक्त होने पर उसके जीवन का आधार कौन होगा? इससे यही सिद्ध होता है कि बालक के शरीर का अपना ही प्राण उसकी वृद्धि और विकास का हेतु होता है। गर्भस्थ बालक में उसके शरीर की वृद्धि का कारण यदि आत्मा को भी मान लिया जाए तो भी प्राण के बिना शरीर में गति नहीं हो सकेगी और फिर शरीरस्थ वायु की भी कुछ उपयोगिता नहीं रहेगी। शरीर में प्राण के बिना अकेला जीवात्मा कुछ नहीं कर सकेगा। अतः शरीर में प्राण की ही प्रधानता माननी होगी क्योंकि भूख प्यास जैसी शारीरिक क्रियाएं भी तो प्राण के कारण ही उत्पन्न होती हैं। रक्त संचार, मल-मूत्र परित्याग तथा रज-वीर्य में गति प्राण से ही प्रसारित होती है। शरीर में बल, शक्ति और पराक्रम प्राण से ही बना रहता है। भार को उठाते अथवा कोई काम करते समय प्राण को भीतर रोकने से बल उत्पन्न होता है। यदि प्राण समान भाव से विकाररहित कार्य करता रहे तो शरीर सर्वथा स्वस्थ बना रहता है। प्राण के मन्द अथवा तीव्र होने से रक्तचाप बढ़ जाता है या घट जाता है जिसे 'हाई ब्लड प्रेशर' या 'लो ब्लड प्रेशर' कहा जाता है। पर्वतों पर चढ़ने, दौड़ लगाने तथा उछल-कूद करने में प्राण की उत्कृष्टता की अपेक्षा होती है। प्राण के विकृत हो जाने पर मनुष्य को अनेक प्रकार के रोग घेर लेते हैं। वात सम्बन्धी विविध पीड़ाओं तथा हृदय और छाती के रोगों का कारण भी प्राण सम्बन्धी विषमता ही होती है। प्राण पर वश होने से इन्द्रियों और मन पर भी वशित्व हो जाता है।

आत्मा के साथ तीन प्रकार के प्राणों का सम्बन्ध रहता है। स्थूल शरीर में

स्थूल प्राण रहता है जो वायु का ही कार्य विशेष है और यही स्थूल शरीर का आधार होता है। दूसरा सूक्ष्म प्राण है जो सूक्ष्म वायु का परिणाम है और सूक्ष्म शरीर के जीवन का आधार रहता है। तीसरा प्राण कारण शरीर में रहता है। यह कारण शरीर के जीवन को सुरक्षित रखता है। स्थूल प्राण की अवधि पर्यन्त ही स्थूल शरीर जीवित रहता है और सूक्ष्म प्राण की अवधि तक सूक्ष्म शरीर जीवित रहता है। यह कई अरब वर्षों तक बना रहता है। प्रलय के समय यह भी अपने कारण में लय हो जाता है। कारण शरीरस्थ प्राण की उत्पत्ति चित्त से होती है। यह भी प्रलय काल तक जीवित रहता है। इसकी आयु सूक्ष्म शरीर के प्राण से अधिक होती है। अन्त में यह भी प्रलय काल में अपने कारण में विलीन हो जाता है। प्राण ही सर्वप्रथम जीवन का संचार करता है। इस प्राण रूप जीवनी शक्ति से ही मनुष्य के भोग प्रारम्भ होते हैं और अपवर्ग तक चलते हैं। प्रलय काल या मोक्ष के समय ही इनकी समाप्ति होती है।

सर्वप्रथम चित्त में प्राण की उत्पत्ति हुई। इसे ही हम चित्त की सर्वप्रथम वृत्ति मानते हैं। सर्वप्रथम इसका ही स्फुरण चित्त में होना है। यही प्रथम कर्म का प्रादुर्भाव है। व्यष्टि चित्त का कारण समष्टि चित्त होता है और व्यष्टि प्राण का कारण समष्टि प्राण होता है और उसका भी कारण समष्टि महत्तत्व। फिर महत्तत्व का मूल कारण अन्त में प्रकृति होती है।

कारण रूप प्रकृति में सर्वप्रथम प्राण का प्रादुर्भाव—

प्रलय काल की अवस्था में जब यह कार्यात्मक जगत् परिणाम भाव को प्राप्त होकर अपने कारण में चला जाता है उस स्थिति को हम प्रकृति की साम्यावस्था अथवा अन्तिम अवस्था कहते हैं और यही तत्सम्बन्धी अन्तिम परिणाम होता है। उस समय केवल साम्यावस्थित प्रकृति और ब्रह्म ही शेष रह जाते हैं। सत्त्व रज और तम भी विलीन भाव को प्राप्त हो जाते हैं। उस स्थिति में किसी प्रकार का कोई विशेष कार्य अथवा क्षोभ नहीं होता। प्रकृति के साथ केवल सर्वात्मा चेतन का सम्बन्ध बना रहता है। अतः उस साम्यभाव के अन्तर्गत भी प्रकृति के कार्य का नितान्त अभाव नहीं होता। सूक्ष्म कम्पन भाव बना ही रहता है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। इन तीन गुणों में एक रजस् है। क्रिया इसका स्थाई धर्म है। अतः कर्म का सर्वथा अभाव कभी नहीं होता। एक साधारण और सूक्ष्म सी गति सदा ही बनी रहती है। केवल विशेष क्षोभों और परिणामों का अन्त अथवा अभाव हो जाता है। फिर भी किसी न किसी रूप में यत्किंचित् कर्म तो प्रलय काल की अवस्था में भी मानना ही पड़ेगा क्योंकि चेतन का

सम्बन्ध सर्वदा क्रिया का हेतु होता है। प्रकृति और ब्रह्म का सम्बन्ध नित्य और शाश्वत है। अतः ब्रह्म की व्याप्ति के कारण सूक्ष्मातिसूक्ष्म यत्किंचित् क्रिया सदा ही होती रहती है। यह क्रिया प्रकृति में रजोगुण के अस्तित्व को सिद्ध करती है। उस समय तामस रूप में प्रकृति की स्थिति बनी रहती है। किसी प्रकार का कोई अवस्थान्तर परिणाम नहीं होता। चेतना का नित्य सम्बन्ध रहने से कर्म का अभाव भी नहीं होता। सामान्य स्पन्दन सा अथवा कम्पनमात्र सी क्रिया बनी रहती है। चेतन-स्पर्श जनित इस सूक्ष्म क्रिया को ही हम प्राण की क्रिया कह सकते हैं। यह प्राण शक्ति एक प्रकार से रजोगुण का ही रूप है। प्रकृति और सर्वव्यापक चेतन के संयोग से जो शक्ति उत्पन्न होती है उसे प्राण की संज्ञा दी जा सकती है*। प्रलय काल में भी सामान्य कम्पन या सूक्ष्म सी गति प्रकृति में बनी रहती है। रजस् प्रकृति का एक गुण है जिसका अमर-धर्म क्रिया है। इस सूक्ष्म कम्पन अथवा क्रिया को ही रजोगुण नाम दे दिया गया है। प्रलय काल में भी जो विनाश क्रियाएं अथवा संहार होता है उन्हें ज्ञान द्वारा ही होना कहा जा सकता है। ज्ञानसिंचित कारणोद्धारक विघटन क्रिया को सत्त्व गुण कहा जाता है जैसे आत्मा के संयोग से चित्त में ज्ञान रूप धर्म उत्पन्न होता है उसी प्रकार प्रकृति में भी ब्रह्म के संयोग से ज्ञान रूप धर्म की उत्पत्ति होती है। इसे हमने सत्त्व गुण माना है। प्रलयावस्था में भी ये तीनों गुण— सत्त्व, रजस् और तमस् सूक्ष्म स्थिति में विद्यमान रहते हैं। जैसे निद्रावस्था में मानव शरीर के अन्दर प्राण का कार्य होता रहता है उसी प्रकार प्रकृति में भी सूक्ष्म प्राण का कार्य नित्य बना रहता है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से सूक्ष्म प्रकृति में सर्वप्रथम गति प्रारम्भ होती है। इसी गति का नाम प्राण है। यह गति प्रारम्भ में अत्यन्त सूक्ष्म होती है। तदनन्तर इसमें स्थूल भावोन्मुख ज्ञान, बल और क्रिया की वृद्धि होती है। कालान्तर में ये तीनों गुण पूर्णतया स्थूल रूप में प्रगट होने लगते हैं। ऐसा तब होता है जब सृष्टि सम्बन्धी सृजन रूप क्रिया प्रारम्भ होने को होती है। इस अवस्था में प्राण, ज्ञान, क्रिया स्थिति का समन्वयरूप सत्व गुण रज और तम की अपेक्षा सूक्ष्मतम होता है। प्रकृति का सर्वप्रथम गुण, धर्म अथवा अवस्था प्राण है। दूसरा सत्त्व गुण अथवा ज्ञान है। तदनन्तर तृतीय गुण, धर्म वा क्रिया रजोगुण है। इस प्रकार प्रकृति का अन्तिम रूप स्थिति और बल रूप तमोगुण है। ज्ञान और कर्म मिलकर बल अथवा शक्ति के रूप में आ जाते हैं। ये चारों मिलकर संसार का सृजन करते हैं। जिस प्रकार प्रकृति नित्य है उसी प्रकार इसकी शक्ति प्राण भी नित्य है। कई स्थलों में हमने प्राण को कर्म या रजोगुण के रूप

*कम्पनात्—ब्रह्म सूत्र अध्याय १, पाद ३, सूत्र ३६।

में कथन किया है परन्तु अधिक सूक्ष्म तथा गहन विचार और अनुभव करने पर यह प्रतीत हुआ है कि प्राण इन तीनों से बहुत सूक्ष्म और प्रकृति का सर्वप्रथम परिणाम या विकार है। हम इसे प्रकृति की परिणत होती हुई सर्वप्रथम अवस्था कहेंगे। जिस प्रकार हमने आत्मा और चित्त के संयोग के फलस्वरूप चित्त में उत्पन्न प्राण को सर्वप्रथम वृत्ति माना है, उसी प्रकार ब्रह्म और प्रकृति के संयोग से प्राण को प्रकृति की सर्वप्रथम शक्ति माना है। चित्त में उत्पन्न स्मृति को दूसरी वृत्ति माना है जो ज्ञान रूप मानी गई है। तदनन्तर तीसरा परिणाम सत्त्व या ज्ञान को माना है। यदि प्राण को हम कर्म रूप समझें तो सत्त्व ज्ञान रूप है। तब ज्ञान की अपेक्षा कर्म या रजोगुण का महत्त्व बढ़ जाता है। अतः सत्त्व रज और तम प्रकृति के दूसरे, तीसरे और चौथे अवस्थान्तर भेद हैं। ये तीनों प्राण की अपेक्षा कुछ स्थूलतर होते जाते हैं। कई आचार्यों ने इनको ब्रह्म की ही शक्ति माना है और इस शक्ति से प्रकृति अथवा माया का प्रादुर्भाव कथन किया है। हमने ब्रह्म को निरवयव, निष्क्रिय, सर्वव्यापक तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म माना है। फलतः हमारे मत में प्राण ब्रह्म की शक्ति नहीं हो सकता। उसे तो उसी प्रकृति का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव अथवा शक्ति मानना होगा जो तद्रूप परिणाम या विकार भाव को प्राप्त होने जा रही है। अब यह शंका हो सकती है कि प्राण ज्ञान रूप है अथवा कर्मरूप अथवा बलरूप? हमारे सिद्धान्त में तो वास्तव में उसे इन तीनों से पृथक् ही मानना उचित होगा क्योंकि ज्ञान, कर्म और बल इस शक्ति से स्थूल ही होने चाहिए। अतः प्राण को सर्वप्रथम प्रकृति की ही शक्ति मानना उचित है। प्रकृति इसी शक्ति को लेकर ज्ञान, बल और क्रिया के विपरिणाम रूपों में अवस्थान्तर होती हुई आगे चलेगी। इस प्राणरूप शक्ति का कोई रंग-रूप तथा आकार-प्रकार देखने में नहीं आता। व्यक्तिगत चित्त में भी प्राणरूप शक्ति प्रथम उत्पन्न होती है तदनन्तर स्मृत्यात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होती है और तदनन्तर कर्म और बल उत्पन्न होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि प्रकृति का प्रथम परिणाम प्राण ही है। दूसरा परिणाम ज्ञान रूप में सत्व गुण और तीसरा क्रिया रूप में रजोगुण तथा चौथा बल या तमोमयी स्थिति रूप परिणाम होता है। अन्य किसी भी आचार्य ने इस प्राणरूप परिणाम को प्रकृति का सर्वप्रथम परिणाम नहीं माना है। यह हमारा ही अपना अनुभव अथवा खोज है। सत्त्व रजस् और तमस् तो सूक्ष्म रूप प्राण ही है। प्राण से सूक्ष्मतर उपादान कारण केवल मूल अव्यक्त प्रकृति ही है। यदि प्रकृति का भी कोई और उपादान कारण मानें तब अनवस्था दोष पैदा होता है। प्रकृति की अन्तिम स्थिति कहीं भी नहीं होगी। अतः सबसे अन्तिम उपादान कारण प्रकृति ही माननी होगी। भौतिक विज्ञानवादी इस प्राणरूप शक्ति को फोर्स (Force) कहते हैं। यह प्रत्येक पदार्थ में भिन्न-भिन्न स्तरों पर रहती है।

सब ही विद्वान् आचार्यों ने शरीर में स्थित जीवनी शक्ति (vital force) को माना है। सर्वव्यापक ब्रह्म के संयोग से जो प्रकृति में कंपन क्रिया होती है उसे हम समष्टि प्राण कहेंगे क्योंकि वह प्रकृति के सर्वदेश में क्रिया का हेतु होता है। उस प्रकृति में चेतन ब्रह्म के संयोग से जो गति पैदा होती है उसी की प्राण संज्ञा है। यदि जड़ प्रकृति को हम चेतन से सदा पृथक् मानें तो दोनों ही निष्क्रिय हो जाते हैं क्योंकि दोनों के संयोग से ही कर्म की व्युत्पत्ति संभव होती है। हमने इस कार्य को ही प्राण संज्ञा दी है। यह सदा प्रकृति में गति का हेतु बना रहता है। वह सर्वव्यापक चेतन का धर्म या गुण कदापि नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म तो निर्विकार निष्क्रिय और निरवयव है, अवकाश रहित है, उसमें स्वयं गति का अभाव है। प्रकृति सावयव और विकारवान् है। अत: इस में ही गति, क्रिया, कर्म अथवा प्राण की उत्पत्ति होती है। चेतन के संयोग से गमन रूप क्रिया के होने को प्राण संज्ञा दी जाती है। गत्यात्मक प्राण ही सदा गति कर्म अवस्थान्तर रूप धर्म का कारण बनता रहेगा। कई अरब वर्ष तक प्रकृति में सामान्य क्रिया बनी रहती है। ज्योतिषविदाचार्यों ने माना है कि प्रकृति चार अरब वर्ष तक प्रलयावस्था में रहती है। यह सब विद्वानों का अनुमान ही है। प्रत्यक्षरूपेण देखी हुई कोई बात नहीं है। वर्तमान परिणाम क्रम को देखकर यह अनुमान अवश्य होता है कि प्रलय अवश्यम्भावी है और वह बहुत काल तक रहती है। इस प्रलयावस्था में प्रकृति एक प्रकार से विश्राम लेती है और नवीन बलार्जन करती है। इसके मध्य केवल सामान्य सी ही क्रिया रहती है। विशेष क्रिया का सर्वथा अभाव हो जाता है। इस कारण प्रसुप्तवत् शान्त प्रकृति में किसी प्रकार का परिवर्तनशील संकोच अथवा विकास नहीं होता। किसी भी प्रकार की विषमता नहीं आती। जैसे दिन भर व्यक्ति कार्य करता हुआ थक जाता है तो फिर रात्रि में निद्रा की अवस्था में उसे पूर्ण विश्राम मिल जाता है। तब वह स्वस्थ और सशक्त होकर पुन: कार्य में प्रवृत्त होने में समर्थ हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृति में भी प्रलय काल की अवस्था में चेतन ब्रह्म के संयोग से व्याप्य-व्यापक भाव से प्राण के रूप में केवल सामान्य सी गति या कम्पन तो अवश्य बना रहता है परन्तु कोई विशेष परिणाम घटित नहीं होता। इस प्रशान्त अवस्था में कई अरब वर्षों तक क्षोभरहित रह कर और नवीन स्फूर्ति प्राप्त करती हुई बलवती बनकर सृष्टि के पुन: सृजन करने योग्य हो जाती है। बहुत काल तक निरन्तर समान स्थिति में रहने से पुन: युवती सी हो जाती है। सृजन काल में जो क्षोभ या परिणाम प्रकृति में होते रहते हैं उनका प्रलय काल में अभाव रहता है। निद्रा के समान साम्यावस्था में प्राण-द्वारा सामान्य कम्पन अथवा स्पन्दनमात्र एकाकार में होता रहता है। जैसे मानव शरीर में आत्मा और चित्त के संयोग से सूक्ष्म प्राण की उत्पत्ति होती है

उसी प्रकार परमात्मा और प्रकृति के संयोग से सूक्ष्म प्राण की उत्पत्ति होती है। प्रलय काल में जो सूक्ष्म सी गति या कम्पन होता रहता है उसे ही सूक्ष्म प्राण समझें। यही सूक्ष्म प्राण भविष्य में परिणत होकर सर्वप्राणियों के प्राण का उपादान कारण बनकर जीवन का हेतु बनता है। अतः यह मानना होगा कि सर्वप्रथम प्रलय-काल की अवस्था से ही प्राण का प्रादुर्भाव होता है और इसी के द्वारा सृष्टि के सृजन का सारा कार्यकलाप चलता है। यही आगे चल कर प्रकृति के सर्वविपरिणामों में गति, क्रिया, और कर्म का हेतु बना रहता है। प्रकृति के सृजन काल में प्रकृति और परमात्मा के मध्य में रह कर सदा कार्य करवाता रहता है। कुछ आचार्य इसे परमात्मा की और कुछ प्रकृति की शक्ति कहते हैं। उपनिषत्कार ने तो यह कहा है कि :—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च ॥[1]

भावार्थ :—उस ब्रह्म का न कोई कार्य है और न कारण क्योंकि उसमें कोई परिणाम-क्रम नहीं होता। न उसका कोई कारण है क्योंकि एक देशी को कारण की अपेक्षा होती है, सर्वदेशी को नहीं। न कोई उसके समान है, न उससे कोई अधिक महान्। परा और अपरा दो प्रकार की शक्तियाँ हैं जो ब्रह्म विद्या के रूप में उपनिषदों में मानी गई हैं। इनको भगवान् की शक्ति कह दिया गया है और उन्हें ही ब्रह्म की स्वाभाविक ज्ञान बल क्रिया और शक्ति के नाम से कथन किया है। निमित्त कारण भी सन्निधान मात्र से है कर्तृत्व रूप में नहीं क्योंकि वहीं उसके कार्य-कारण भाव का निषेध भी किया गया है। ब्रह्म का प्रकृति के साथ संयोग एवं व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध बना रहता है। इसीलिए अत्यन्त समीपवर्ती होने से प्रकृति और उसके कार्यों को भगवान् की शक्ति मान लिया गया है। वास्तव में ये दोनों सत्ताएँ स्वरूप से पृथक् और अभेद हैं। प्रकृति परिणामिनी है। अतः ज्ञान बल क्रिया उसी के धर्म गुण या कार्य हो सकते हैं ब्रह्म के नहीं। ब्रह्म तो सब धर्मों, सब परिणामों और सब पदार्थों से पृथक् है। असंग, निष्क्रिय, निरवयव, सबसे सूक्ष्म और सर्वव्यापक है। अब शंका होती है प्रकृति में जो रजोगुण धर्म है वह उसमें क्रिया का हेतु क्यों नहीं हो सकता ? सांख्य दर्शन में प्रतिपादित किया गया है "प्रकाशशीलं सत्त्वं, क्रियाशीलं रजः, स्थितिशीलं तमः"। क्या यही सूक्ष्म रूप में प्रकृति के धर्म होने के कारण साम्यावस्था में क्रिया या प्राण का कार्य नहीं कर सकते ? प्राण को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है। रजोगुण ही क्रियाशील होने से प्राण का कार्य करने में समर्थ हो सकेगा।

---

(१) श्वेताश्वतरोपनिषद्—अध्याय ६, मंत्र ८।

समाधान—ऐसा संभव नहीं है। जब तक तीन गुण—सत्त्व रज तम समान भाव में रहते हैं तब तक उनमें किसी प्रकार के कर्म करने की क्षमता नहीं होती। विषमभाव को प्राप्त करके ही उनमें कर्म करने की योग्यता आती है। प्रलयोत्तर काल में जब ये तीनों समान भाव से मिश्रित होते हैं तब इनमें कर्म का अभाव हो जाता है अन्यथा सृष्टि और प्रलयोत्तर स्थिति में कोई भी अन्तर न होगा। इसलिए प्रलयकालीन प्रकृति में कुछ न कुछ गति या कर्म मानना पड़ेगा क्योंकि चेतन ब्रह्म का संयोग इस काल में भी प्रकृति के साथ बना रहता है। जड़ प्रकृति के साथ चेतन ब्रह्म का संयोग ही तो वास्तव में कर्म, गति या कम्पन में हेतु होता है। उस समय कारणरूप सूक्ष्म प्रकृति में सूक्ष्म तरंगें, झनझनाहट अथवा मंद-मंद कम्पन होने चाहिएँ, प्रकृति और ब्रह्म का अविचल रूप में निष्क्रिय होकर बैठ जाना सिद्ध नहीं होता। चेतन का संयोग सदा ही जड़ में गति का हेतु होता है। अतः प्रलयावस्था में भी चेतन का प्राणरूप अत्यन्त सूक्ष्म व्यापार बना रहता है। ब्रह्म और प्रकृति के संयोग से प्रकृति में सर्वप्रथम जो शक्ति उत्पन्न होती है उसे हम प्राण कहते हैं। यह प्राण-शक्ति तीनों गुणों से भिन्न ही माननी पड़ेगी क्योंकि तीनों गुण तो साम्यभाव को प्राप्त होकर सूक्ष्म प्रकृति के रूप में हो गए हैं। जीवधारियों में गाढ़ निद्रा के समय सर्व इन्द्रियों और मन के व्यापार तथा प्रधान क्षोभ शान्त हो जाते हैं, केवल प्राण ही जागरूक रहता है और समान-रूपेण उसका व्यापार प्राणान्त तक होता रहता है। रक्त का संचार, हृदय की नाड़ियों की धड़कन, खाद्य और पेय पदार्थों का पाक, रसों का निर्माण, रज वीर्य मलमूत्र, पाकज धर्म तथा अन्य निर्माणादि कार्य होते रहते हैं। इनमें प्राण ही प्रधानरूप में कार्य करता है। इसी प्रकार प्रकृति में भी प्राण द्वारा पाकजरूप कर्म नित्य नवीन सूक्ष्म परिवर्तन अथवा परिणाम होते रहते हैं। अन्त में वह जीर्ण-शीर्ण होकर अपने कारण में पहुंचती है और वहां से बलवती शक्तिशाली और युवती होकर निकलती है। यह सब प्राण के बिना नहीं हो सकेगा। कारण में विलीन होने के काल में भी कुछ न कुछ अत्यन्त सूक्ष्म परिणाम या परिवर्तन सामान्य रूपेण होता रहता है अन्यथा वह सृजन योग्य कैसे बनेगी और सामान्य अवस्था से विशेष रूप में प्रगट कैसे होगी ? प्रकृति के साथ परमात्मा का तीनों कालों में सम्बन्ध रहता है। अतः उसमें सर्वथा जड़ता तथा निष्क्रियता कभी नहीं आएगी। इससे यह स्पष्ट है कि प्राण प्रलय काल में भी कुछ न कुछ करता रहता है निष्क्रिय नहीं होने देता। अतः प्राण उससे भिन्न भी है और अभिन्न भी। इसी प्रकार तीनों गुण भी प्राण से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। हम गुण गुणी का भेद और अभेद दोनों ही मानते हैं। प्राण प्रकृति में भेदाभेद से विद्यमान रहता है। भले ही वह प्रकृति की परिणामात्मक अवस्था क्यों न हो उसी के द्वारा यह प्रकृति

त्रित्वभाव को अर्थात् सत्त्व-रज-तमरूप में परिणत होती है। प्राण मूल की दूसरी अवस्था थी और गुणों के रूप में तीसरी अवस्था को पहुंचती है। विद्वान आचार्यों ने प्राण रूप शक्ति को अनेक नामों से पुकारा है— शक्ति, बल, गति, कर्म, क्रिया, फोर्स इनर्जी इत्यादि परन्तु इस ग्रंथ में हमने इसे सर्वत्र प्राण के नाम से ही कथन किया है।

प्रश्न—यदि प्राण वा शक्ति को आप प्रकृति के बल रूप में कथन करते हैं तो बल तो तमोगुण का अर्थ रखता है। उसी बल को हम क्यों न मान लें कि वह प्रकृति की साम्यावस्था में काम करता रहता है

समाधान—तीनों गुणों के समभाव को प्राप्त हो जाने पर अकेले तमोगुण बल रूप शक्ति कैसे काम करेगी? फिर तो सत्त्व और रजोगुण का भी कर्म बना रहना चाहिए। ऐसी स्थिति में साम्यावस्था आ ही न सकेगी। साम्यावस्था में इन तीनों से भिन्न ही अन्य शक्ति का सर्वप्रथम उद्भव मानना होगा। फलतः जड़ात्मक प्रकृति और चेतन ब्रह्म के संयोग से उद्भूत प्राण के अतिरिक्त सर्वप्रथम अन्य कोई गुण या शक्ति नहीं हो सकती। यही प्राण तीनों गुणों को जागृत करता है। मूल उपादान को साम्यावस्था से विषमता की स्थिति में लाता है। अतः यह शक्ति तीनों गुणों से सूक्ष्मतर तथा भिन्न है। यही प्रलय काल में भी सजग बनी रह कर कार्य करती रहती है। प्रकृति को नितान्त जड़ नहीं होने देती, उसे शून्यता में नहीं आने देती। कालान्तर में इसके द्वारा ही तीनों गुणों का उत्थान या प्रादुर्भाव होता है। प्राण ही सर्वभूतों का आश्रय है। जिस प्रकार पहिए के अन्दर अरे लगे रहते हैं उसी प्रकार प्राण में संसार के सभी पदार्थ बिंधे हुए हैं। प्राण से प्राण उत्पन्न हुआ है। प्राण ही प्राण अर्थात् जीवन क्रिया की सम्वृद्धि करता है। प्राण ही पालक पिता है, प्राण ही संभरता माता है[1]।

शंका—यह प्राण शक्ति प्रकृति और ब्रह्म दोनों से पृथक् है या उनका ही गुण अथवा धर्म विशेष है?

---

(१) प्राणो वा आशया भूतान्यथा वा अरानाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितम्। प्राणः प्राणेनयाति, प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति, प्राणो ह पिता, प्राणो माता, इत्यादि।
—छांदोग्योपनिषद् अ० ७ खं० १५ मं० १

समाधान—यदि प्राण को अलग शक्ति मानते हैं तो शंका होती है कि यह तीसरा तत्त्व नित्य है या अनित्य? यदि प्राण शक्ति को नित्य मानते हैं तो प्रकृति और पुरुष दो ही नित्य पदार्थ न रह कर तीन नित्य सत्ताएं माननी पड़ेंगी फिर एक और शंका भी होती है कि यह शक्ति जड़ होगी या चेतन? यदि जड़ है तो उसका उपादान कारण क्या है? ऐसा कोई अन्य पदार्थ अनुभवगत नहीं है जो उसका उपादान कारण बन सके। यदि चेतन परमात्मा की शक्ति मानते हैं तो परमात्मा को विकारवान और परिणामी मानना होगा और दोनों का कार्य-कारणभाव ही संभव होगा। कार्य-कारणभाव सम्बन्ध मानने पर प्रकृति और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं रहता। इस कारण से प्राण को प्रकृति का सर्वप्रथम विकार या परिणाम ही स्वीकार करना चाहिए। यही सूक्ष्म प्राण प्रलय और सृजन दोनों कालों में चेतनवत् हुई प्रकृति को सामान्य और विशेष गतियों द्वारा क्रियाशील बनाए रखेगा।

पुनः शंका उपस्थित होती है कि मनुष्य तो शरीरधारी चेतन तत्त्व है। इसका शरीर पंच भूतों से संगठित है। इसमें तो प्राण श्वसन-प्रश्वसन क्रिया द्वारा प्रत्यक्ष विद्यमान है। परन्तु प्रकृति तो जड़ है। उसमें प्राण की प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती।

समाधान—जिस प्रकार जड़ पंचभूतों का शरीर चेतन आत्मा के संयोग से क्रियाशील हो जाता है और उसमें कर्म तथा गति देखने में आती है उसी प्रकार जड़ प्रकृति भी चेतन ब्रह्म के संयोग से चेतनवत् हुई गतिशील होकर संसार की रचना में प्रवृत्त होती है। चेतन के संयोग से इसमें और इसके कार्यों में प्रत्यक्ष कर्म होता हुआ देख रहे हैं इसके सर्व कार्यात्मक पदार्थ गतिशील बने हुए हैं। यह प्राण की गति ही का कार्य है। इसी गति की हमने प्राण संज्ञा रखी है। इसी गति के कारण प्रकृति त्रित्व भाव को प्राप्त होती है। प्रलयकाल में सर्वप्रथम अकेली थी फिर इसमें प्राण शक्ति उत्पन्न हुई इससे द्वित्व भाव प्राप्त हुआ। तदनन्तर सत्व, रज, और तमरूप होकर त्रित्वभाव को प्राप्त हुई। संभव है कपिल मुनि का इस ओर ध्यान न गया हो और साम्यावस्था में प्रकृति पुरुष ही कह कर छोड़ दिया हो। इनके दर्शनशास्त्र से यह आभास नहीं मिलता कि साम्यावस्था में सूक्ष्म प्राण शक्ति सूक्ष्म कर्म कर रही थी परन्तु हमारे अनुभव में तो यही आ रहा है कि जड़ प्रकृति और पुरुष (ब्रह्म) के संयोग से सर्वप्रथम प्राणरूपी शक्ति का ही प्रादुर्भाव हुआ है। यदि हम इसे एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाना कहें तो कोई भी आपत्ति उपस्थित नहीं होती। यह एकत्व से द्वित्वभाव को प्राप्त हुई है और फिर त्रित्व भाव को अर्थात् सत्व, रज, और तम के रूप में अवतरित हुई है। प्राण ही इसे गतिशील बनाए रखता है। धर्म और धर्मी का भेद भी

होता है और अभेद भी। इसके पश्चात् सत्त्व, रज, और तम तीन धर्म उत्पन्न होते हैं। कपिल मुनि ने इन तीन धर्मों को ही सर्वप्रथम परिणाम माना है। परन्तु हमारे विचार और अनुभव के अनुसार प्रकृति का सर्वप्रथम परिणाम प्राण शक्ति ही है। यह प्राण शक्ति प्रकृति को प्रलय काल में भी क्रियाशील बनाए रखती है। सांख्याचार्य ने तो तीनों गुणों के सम्मिश्रण रूप एकीभाव को प्रकृति की साम्यावस्था कहा है और इस साम्यावस्था में किसी भी प्रकार का कर्म या गति का होना नहीं माना। परन्तु हमारे अनुभव के आधार पर तो प्रकृति में कर्म का अभाव कभी नहीं होता। सदा ही सर्वव्यापक चेतन के सन्निधान से सूक्ष्म कर्म या गति बनी रहती है।

शंका—प्रलयकाल की अवस्था में प्राण के द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म गति कुछ परिवर्तनात्मक विशेषता पैदा करती है और क्या कोई अवस्थान्तर परिणाम भी विशेष रूप से होता है अथवा केवल गति ही बनी रहती है। यदि गति रहती है तब तो एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाना अवश्य मानना पड़ेगा ?

समाधान—यदि प्रलय काल की अवस्था में सूक्ष्म परिणाम उत्पन्न न हों तो वह चार अरब तथा इससे भी अधिक वर्षों तक अवधि में सशक्त बलवती होकर संसार का पुनः सृजन कैसे कर सकेगी। चार अरब वर्ष तक सृष्टि का पालन करते रहने के पश्चात् वह जीर्ण शीर्ण और वृद्धा सी हो जाती है। जिस प्रकार कोई जीर्ण शीर्ण वस्तु उपभोग के योग्य नहीं रहती और अपने कारण रूप में पहुंच कर उपयुक्त रूप से परिवर्तित होती हुई फिर भोग देने के योग्य हो जाती है उसी प्रकार यह प्रकृति भी चार अरब वर्षों अथवा इससे भी अधिक अवधि तक प्रलय काल में विश्राम पूर्वक नवजीवन प्राप्त करके संसार के सृजनार्थ सशक्त हो जाती है। जैसे मनुष्य शान्ति पूर्वक सोने के पश्चात् स्वस्थ होकर उठता है और पुनः कर्म करने में समर्थ हो जाता है इसी प्रकार प्रकृति भी प्रलय रूप निद्रा में जाकर नूतन शक्ति और स्फूर्ति प्राप्त करती है। यह बल उसे निश्चितरूपेण किसी न किसी प्रकार सूक्ष्म परिवर्त्तनरूपी प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव हो सकता है। यदि उसमें कर्म की नितान्त शून्यता मानेंगे तब नवसंचारित प्रौढ़ता किस विधि से आ पाएगी ? इसलिए यह मानना पड़ेगा कि यह पाषाण के समान निस्तब्ध और निष्क्रिय नहीं होती। सर्वव्यापक चेतन का संयोग इसे सदा गतिशील बनाए रखता है। सामान्य गति और कम और गति का अस्तित्व ही उसे विशेष गति या क्षोभ या विशेष परिणाम अर्थात् संसार के सृजन के योग्य बना सकता है अन्यथा असत् से सत् की उत्पत्ति असम्भव हो जाएगी। प्रकृति प्रलयकाल में भी रहनी चाहिए जिस का विशेष परिणाम वा परिवर्तन सृजन अथवा सृष्टिकाल में हो

सके। निम्न चार अनुक्रमिक अवस्थाएं प्रकृति में अवश्य आती हैं :--(१) साम्यावस्था, (२) सृजनावस्था, (३) सृष्टिपोषण अवस्था और (४) प्रलयावस्था। इसी पूर्ण चक्र में इसका सतत भ्रमण होता रहता है। साम्यावस्था में सामान्य गति रहने के पश्चात् जब विशेष परिणाम प्रारम्भ होता है तब यह कारणरूप से कार्यरूप में गमन करती है। इस समय सर्वप्रथम सत्त्व रूप से विशेष परिणाम प्रारम्भ होता है। तब यह कारणभाव से एक विशेष स्थिति में कार्यरूप में परिणत होती है। इसका यह ज्ञान रूप में परिणाम होता है। यदि हम जड़ चेतन के संयोग पर आधारित सामान्यावस्था वाली अत्यन्त सूक्ष्म गति को प्रकृति का प्रथम परिणाम या विकार मानें तो यह ज्ञान रूप परिणाम दूसरी अवस्था मानी जाएगी। इसके पश्चात् रजोगुण रूप तीसरा परिणाम आरम्भ होता है जिसमें विशेषरूपेण कर्म की ही प्रधानता रहती है क्योंकि ज्ञान और कर्म का सम्बन्ध सदा अटूट है। तदनन्तर चौथी अवस्था में तमोगुण का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार प्राण रूप गति को सर्वप्रथम प्राकृतिक परिणाम स्वीकार करने से वास्तव में समीचीन सिद्धान्त यही सिद्ध होता है कि सर्वप्रथम प्राण का, तत्पश्चात् सत्त्व का, तदनन्तर रजस् और उसके पश्चात् तमस् का आनुक्रमिक प्रादुर्भाव होता है। परमात्मा का प्रकृति के साथ नित्य सम्बन्ध रहता ही है अतः प्रकृति में गतिहीनता की अवस्था कभी नहीं आएगी। फलतः यह गति नित्य ही बनी रहती है। निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रकृति, प्राणरूप सूक्ष्म क्रिया, ब्रह्म ये तीनों ही नित्य सत्ताएं हैं। इनसे ही सत्त्व रज और तम का प्रादुर्भाव स्थूलतर क्रमपूर्वक कार्यरूप में होता है।

अब गतिरूप प्राण नित्य होते हुए और प्रकृति का सर्वप्रथम गुण या धर्म भी होते हुए प्रकृति उससे कभी भी पृथक् नहीं हो सकती क्योंकि गुण गुणी का सम्बन्ध नित्य होता है। इसे हम भेदाभेद के नाम से प्रतिपादित करते हैं। जब प्रकृति में अवस्थान्तर परिणाम होता है तब उसमें गुण और धर्म भी उत्पन्न होते हैं। इस अवस्थान्तर परिणाम को दूसरे दृष्टिकोण से गुणान्तर परिणाम भी कहते हैं क्योंकि धर्मी के साथ धर्मों का भी परिणाम होता है। इनको हम परस्पर भेदाभेद मानते हैं। कणाद मुनि ने भी गुण-गुणी का भेद माना है। गुण सदा द्रव्य के आश्रित रहता है। इन दोनों का संयोग सम्बन्ध अथवा आश्रय-आश्रयीभाव सम्बन्ध होता है। इसके विपरीत कपिल मुनि गुण का प्रादुर्भाव गुणी से मानते हैं। उनकी दृष्टि में गुण गुणी से पृथक् कोई पदार्थ नहीं है जैसे गन्ध पुष्प से भिन्न पदार्थ नहीं है।

इस "प्राण विज्ञान" पुस्तक में जिस प्रकार हमने प्रकृति की साम्यावस्था में

विद्यमान चेतन आत्मा के द्वारा गति को प्राण माना है उसी प्रकार व्यष्टिगत स्तर पर मानव शरीर में चेतन आत्मा और अचेतन चित्त के संयोग से चित्त में प्राण की उत्पत्ति मानी है और अचेतन प्रकृति और चेतन ब्रह्म के संयोग द्वारा प्रकृति में प्राण की उत्पत्ति मानी है जिसे हम समष्टि प्राण कहते हैं। यही समष्टि प्राण सब प्राणों का उपादान कारण माना जाएगा। प्रकृति के साथ इसके भी परिणाम होते रहेंगे। स्मर्तव्य यह है कि प्रकृति में जो प्राण उत्पन्न हुआ है वह ब्रह्म की अपेक्षा रखता है क्योंकि चेतन ब्रह्म के बिना इसकी उत्पत्ति नहीं होगी। समानतया जीवात्मा के सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त लागू होगा। "जीव प्राणधारणयो:" धातु से जीव शब्द की सिद्धि होती है। जब ब्रह्म के सम्पर्क से प्रकृति में विविध परिणाम होते हैं और वह समष्टि चित्त अनेक व्यष्टि चित्तों के रूप में पहुंचता है तब उस चित्त के देश में जो सर्वव्यापक चेतन परमात्मा है उसी की जीवात्मा संज्ञा हो जाती है और उस काल में ही चित्त में प्राण की उत्पत्ति होती है। यहां चित्त में उत्पन्न प्राण भी आत्मा की अपेक्षा रखता है। उसके बिना इसकी उत्पत्ति नहीं होती। प्राण का तीनों शरीरों से सम्बन्ध रहता है और उनके सर्वकार्य यही व्यष्टि प्राण सम्पन्न करता है और जीव को भोग तथा अपवर्ग भी यही प्राप्त कराता है। इसी प्रकार प्रकृति में उत्पन्न हुआ प्राण भी उसके सर्व कार्यों की सम्पन्नता में उसके साथ चलता रहता है और सृष्टि की रचना में हेतु बन कर उसका विस्तार करने में सदा सहायक रहता है। उसके द्वारा ही प्रकृति के सर्वकार्य सिद्ध होते रहते हैं। प्रकृतिगत कर्म के सारे कार्य प्राण के माध्यम से ही अस्तित्व में आते रहते हैं। मानव शरीर में भी जो कार्य होता है वह भी प्राण ही सम्पन्न करता है। उसी भांति प्रकृति में भी सम्पूर्ण कार्य या क्रिया का प्रसाधक प्राण ही होता है। प्रौढ़ीवाद से यदि हम इसे ब्रह्म का प्राण कह दें तो भी कोई अपवाद नहीं होगा क्योंकि मनुष्य शरीर में भी तो इसी कर्म के सम्प्रेरक को प्राण की संज्ञा दी गई है। थोड़ी देर के लिए प्रकृति को ब्रह्म का शरीर मान लिया जाये तब इसे विशाल विराट् रूप काया में संचारित गति की प्राण संज्ञा दोषरहित ही होगी। भले ही प्रकृति में शरीर के भोगायतन की बात नहीं बनती और न सिद्ध ही होती है परन्तु अलंकार रूप से समझाने के लिये ऐसा कहा जा सकता है। प्रयोजन यह है कि सर्वप्रथम प्राण की उत्पत्ति प्रकृति में ही मानना समीचीन होगा। जैसे प्राण के आधार पर मनुष्यशरीर सदा कर्म करने में समर्थ बना रहता है उसी प्रकार प्राण के आधार पर प्रकृति भी नित्य कर्मशील बनी रहने में समर्थ होगी। मनुष्य के लिए सदा भोग और अपवर्ग प्रदान करती रहेगी। अत: सर्वकर्मसाधक प्राण को प्रकृति का ही प्रथम गुण विशेष या धर्म विशेष अथवा परिणाम विशेष या कार्य विशेष मानना होगा। जैसे

चेतन जीवात्मा के सन्निधान से शरीर में प्राण द्वारा कर्म या व्यापार होता है वैसे ही चेतन ब्रह्म के सन्निधान से प्रकृति में प्राण द्वारा गति प्रसाधित होती रहती है। यद्यपि प्रकृति जीवात्मा के समान ब्रह्म के वास्ते भोग सम्पादन का हेतु नहीं बनती क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापक है, एक देशी नहीं। एक देशी में ही भोग की बात कही जा सकती है। अतः प्रकृति में ब्रह्म के द्वारा नित्य क्रिया की विद्यमानता ही सिद्ध होती है। उस क्रिया या गति का नाम हमने प्राण रखा है क्योंकि उसका उपादान कारण प्रकृति है। जब तक प्रकृति में प्राण प्रक्रिया चलती रहेगी तब तक यह प्राण, तत्सम्बन्धी गति या कार्य और व्यापार का हेतु बना रहेगा और सृष्टिकाल में रजोगुण के रूप में परिणत होता रहेगा क्योंकि "स्वभावतः क्रियाशीलं रजः" कहा गया है। राजस प्रकृति के कारण सृष्टिपरक सर्व परिणामों तथा अवस्थाओं में क्रिया का हेतु बना रहेगा क्योंकि इसमें कर्म के सब लक्षण चरितार्थ होते हैं।[1] एक प्रकार से प्राण कर्म का अत्यन्त सूक्ष्म रूप ही है क्योंकि प्रकृति में सर्वप्रथम गति का हेतु यही है। स्वयं कार्यरूप होने से अनित्य भी है क्योंकि प्रकृति इसका उपादान कारण है। सूक्ष्म रूप से अविनाशी होने के कारण यह नित्य भी है। जैसे पहिए की नाभि या धुरे में लगे अरे उसके आश्रित रहते हैं उसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड का विभिन्न क्रियाकलाप प्राण के आश्रित रहता है।[2]

इति ब्रह्मनिष्ठराजयोगाचार्योपाधिधारिणा श्री योगेश्वरानन्द
सरस्वतिस्वामिनाप्रणीते प्राणविज्ञानाख्येग्रन्थेऽस्मिन्
प्राणस्वरूपेति वर्णनात्मकोनामहि
प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

(१) 'उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारण गमनमिति कर्माणि।'
—वैशेषिक दर्शन प्रथम अध्याय सूत्र ७

(२) 'अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम'—प्रश्नोपनिषद् ३-६

द्वितीय अध्याय
प्राण की परम्परा

महतत्त्व की सृष्टि के अन्तर्गत कारण शरीर में प्राण का प्रादुर्भाव

महा प्रलय काल में प्रकृति और ब्रह्म के संयोग से प्रकृति में प्राण की उत्पत्ति होने के पश्चात् सामान्य परिणामक्रम चलता रहा। उसके पश्चात् जब विशेष सृजन रूप परिणाम प्रारम्भ हुआ तब प्रकृति सत्त्व, रज, तम के रूप में त्रित्व भाव को प्राप्त हुई क्योंकि महत्तत्त्व की सृष्टि निर्माणोन्मुख थी। आगे महत् ही सत्व वा ज्ञान के रूप में, चित्त के रूप में एवं कारण शरीर के रूप में परिणाम भाव को प्राप्त होता जाएगा तथा रजोगुण वृद्धिपूर्वक, प्राण और कर्म के रूप में परिणत होगा। अन्त में महत्तम स्थिति व अहंकार के रूपों में भावी सृष्टि के सृजन के लिए उदय होती जाएगा। अब प्रकृति प्रथम त्रित्व भाव को प्राप्त होकर तीन अवस्थाओं से युक्त होगी। उस समय तक वह कारण शरीर के रूप में जीवात्मा को धारण करने के योग्य हो चुकेगी और परमात्मा भी अनेकत्व भाव को प्राप्त होकर जीवों के रूप में प्रतीत होने लगेगा। जो ब्रह्म प्रकृति की साम्यावस्था में एकरूप था, एकत्वभावयुक्त था वह प्रकृति के परिणाम भाव को प्राप्त होते ही महत्तत्त्व की अवस्था में अनेकत्त्व रूप में अर्थात् जीवात्माओं के रूप में भासने या प्रतीत होने लगेगा। सत्त्व-महत्तत्व का कार्य जो समष्टि चित्त और उससे उत्पन्न होने वाले अन्य अनेक चित्त हैं उन अनेक चित्तों में एक परमात्मा अनेक रूपों में भासने लगता है जैसे एक कमरे में छोटे-छोटे सहस्रों गोल शीशे लगे हों उनके सामने एक मनुष्य खड़ा होकर सहस्रों रूपों में भासने लगता है। इस अवस्था में चित्त के साथ अल्पमात्रा में रज की उपस्थिति ने चित्त में प्राण का रूप धारण कर लिया क्योंकि अकेला सत्त्व प्रधान चित्त कर्म करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। चित्त ज्ञान प्रधान तो था ही अब रजोगुण युक्त प्राण के संयोग से गतिमान और कर्मशील भी बना गया क्योंकि ज्ञान और कर्म का सदा सम्बन्ध रहता ही है। प्राण कारण शरीरस्थ चित्त में निरन्तर कार्य करता रहेगा। यही चित्त की सर्वप्रथम वृत्ति होगी और कारण शरीर में चित्त का आधार सर्वदा बनी रहेगी। इस समय

आत्मा की 'जीव प्राणधारणे' रूप अवस्था होगी और वह अनेक रूपों में हो चुकी होगी, यह महत्तत्त्व की सृष्टि कहलाएगी। महत् तमस् से उत्पन्न हुआ अहंकार भी कारण शरीर में सम्मिलित हो जाता है। इसके द्वारा ही जीवात्मा को 'अहमस्मि', 'ममेदम्' अथवा महत्तत्व के लोक में शान्ति और आनन्द प्राप्त होता रहता है। इस अवस्था में इन्द्रियों के भोग नहीं होते क्योंकि अभी इन्द्रियों व सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति नहीं हुई है। इस अवस्था में चित्त के साथ अहंकार का सदा सम्बन्ध बना रहने से चित्त में 'अहमस्मि' का बोध अथवा स्वरूपावस्था का साक्षात्कार होता है। जब तक अहंकार की सृष्टि पूर्ण नहीं होती तब तक जीवात्मा की स्थिति महत्तत्व के लोक में माननी होगी। कारण शरीर में श्वसन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है और जीवत्व भाव की स्थिति के अन्तर्गत महत्तत्व के लोक में जीवात्मा आनन्दोपभोग करने लगता है। करोड़ों वर्षों तक यह उपभोग चलता रहता है और जब तक आगे की आहंकारिक सृष्टि उत्पन्न नहीं होती। इस अवस्था में ज्ञान, क्रिया और स्थिति महत् ज्ञान के रूप में तथा महत् रज प्राण के रूप में रहता है। इनके द्वारा स्वरूप अथवा ब्रह्म का आनन्दोपभोग होता रहता है। इसके पश्चात् अहंकार की सृष्टि जिसमें सूक्ष्म शरीरों का निर्माण होता है के उत्पन्न होने में भी करोड़ों वर्ष लगते हैं।

सूक्ष्म प्राण का प्रवेश सूक्ष्म शरीर में होता है और वह आगे भोग-सम्पादन करने में सहायक होता है। अहंकार की सृष्टि में इन्द्रियों द्वारा भोग प्राप्त होने लगते हैं। सूक्ष्म शरीर के संगठित हो जाने तक पंचतत्त्व भाव प्राप्त हो जाता है। इससे पूर्व यह तीन गुणों का रूप ले चुका था। अब पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और पांच सूक्ष्म भूत जिन्हें पंचतन्मात्राएं भी कहते हैं, के रूप में अधिकाधिक स्थूलता में परिणत हो जाता है। महत्तत्त्व की सृष्टि में केवल चित्त द्वारा ब्रह्मानन्द का उपभोग होता है। उस समय चित्त में निर्विचार समाधि के समान ब्रह्मानन्द जैसी अनुभूति होती रहती है अथवा 'अहमस्मि' के रूप में स्थिति हो जाती है

प्रश्न—महत्तत्त्व के लोक में आने पर ब्रह्मानन्द में जो समाधि जैसी अवस्था होती है क्या उसके पश्चात् व्युत्थान भी होता है? वह समाधि कितने काल तक रहती है? क्योंकि जहां निरोध है वहां व्युत्थान भी होना चाहिए।

समाधान—प्रलय से महत्तत्त्व के लोक में आने पर जो ब्रह्मानन्द में समाधि होती है और उस समाधि की स्थिति में योगीगण जो ब्रह्मानन्द भोगते हैं, उससे ब्रह्मानन्द लोक का अनुमान ही किया जा सकता है। संसार में प्रत्यक्ष व्युत्थान और निरोध को

देखकर हम केवल अनुमान लगा सकते हैं कि वहां पर भी इसी प्रकार का व्युत्थान और निरोध होना चाहिए। इसके विषय में तब ही प्रत्यक्ष देखा हाल कहा जा सकता है जब वहां देखा हुआ हो या जो महापुरुष वहां गए हैं वे वहां से लौटकर सुनाने की स्थिति में होते। वे तो अभी तक पृथ्वी तल पर लौट कर आए नहीं हैं। आपको उनकी प्रतीक्षा करनी होगी। हमारी अपेक्षा ब्रह्मलोक का वे बहुत अच्छा समाचार सुना सकेंगे। किन्तु कोई बिरला योगी ही उस महत्तत्त्व की सृष्टि की अवस्था का साक्षात्कार करता है। हां महत्तत्त्व का लोक अवश्य मानना पड़ेगा क्योंकि प्रकृति की परिणत होती हुई तथा विकृति की ओर बढ़ती हुई यह तीसरी अवस्था है। इस शरीरस्थ चित्त में जो शान्ति और आनन्द समाधि की अवस्था में अनुभव होता है वह अवर्णनीय है। जब स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर का भान नहीं रहता, केवल ध्याता और ध्येय ही रह जाते हैं, ऐसी ही अवस्था महत्तत्त्व के लोक में होनी चाहिए। ब्रह्मानन्द से व्युत्थान होने पर इस शरीर के और सूक्ष्म शरीर के धर्म सामने आने लगते हैं और इनमें चित्त लग जाता है। ब्रह्मलोक में तो ये दोनों ही नहीं होते। वहां व्युत्थान काल में कारणशरीर के जो धर्म हैं वे ही सामने आएंगे। कारणशरीर के धर्म क्या हैं, उन्हें हमने अपने 'ब्रह्म विज्ञान' और 'आत्म विज्ञान' ग्रंथों में परमात्मा, प्रकृति, आत्मा, चित्त, प्राण और अहंकार माना है। इनके साथ चित्त का सम्बन्ध और व्यापार अवश्य होगा। चित्त जब ब्रह्मानन्द से निवृत्त होगा तब या तो वह अहंकार के द्वारा 'अहमस्मि' मात्र अपने स्वरूप का अनुभव करने लगेगा अथवा इससे भी शनैः निवृत्त हो जाएगा तब महत्तत्त्व के स्वरूप में अपने को लगा सकता है या सूक्ष्म प्राण और प्रकृति के स्वरूप से भी सम्बन्ध जोड़ सकता है। जब हम महत्तत्त्व की प्रकृति से उसे अलग मानकर कारणशरीर में उसका समावेश करते हैं तो कारणशरीरस्थ एक प्रकार से सात पदार्थ हो जाते हैं। 'ब्रह्म विज्ञान' ग्रंथ में महत्तत्त्व को पृथक् न कह कर प्रकृति के कारणशरीर का उपादान कह दिया था क्योंकि सब परिणामों का आदि उपादान-कारण वही है। इस बात की ओर उस समय हमारा ध्यान नहीं गया था। वास्तव में वहां कारणशरीर में प्रकृति के स्थान में महत्तत्त्व लिखना चाहिए था। मूल प्रकृति तो सब उत्पन्न पदार्थों में अपने कार्यों के साथ रहेगी ही। जब कारण को अनिवार्य रूप से कार्य के साथ रहना है तब कारणशरीरस्थ व सूक्ष्मशरीरस्थ सूक्ष्म पदार्थों के साथ उनके तुरन्त अभिव्यंजक कारणों का ही कथन करना चाहिए था परन्तु किया नहीं गया। वास्तव में कार्यों की कारणोन्मुख गणना करते हुए वहां सूक्ष्मशरीर का उपादान कारण पंचतन्मात्राएं लिखना था न कि साक्षात् रूप से प्रकृति। इसी भांति दूरस्थ मूल प्रकृति को न कह कर कारण शरीर में भी महत्तत्त्व को उपादान कारण कहना अधिक उचित होता। महत्तत्त्व को

प्रकृति के स्थान में मानते हुए प्रकृति की साम्यावस्था में एक और कारणशरीर मानना पड़ता है। परन्तु उस समय चित्त तो होता नहीं, जीवात्म संज्ञा भी नहीं होती। उस अवस्था में जीवात्मा की अग्रिम सत्ता भी नहीं होती। साम्यावस्था में उस समय प्रकृति पुरुष दो ही पदार्थ होते हैं। तीसरे शरीर को द्योतित करने के लिए कारण शब्द ही प्रयुक्त किया जाता है। कारण शब्द द्वारा केवल महत्तत्त्व का प्रकृति से अभेद दर्शाने के प्रयोजन से वहां प्रकृति पद का प्रयोग किया गया है। वास्तव में प्राण तो महत्तत्त्व से पूर्व ही उत्पन्न हो चुका होता है।

शंका—प्राण से उत्पन्न होने की बात समझ में नहीं आई। जब आप ब्रह्म और प्रकृति का नित्य सम्बन्ध मानते हैं तब तो प्राण भी नित्य हो जाता है।

समाधान—प्रलयकाल की अवस्था में वास्तव में सत्त्व, रज, और तम इतने सूक्ष्म भाव को प्राप्त हो जाते हैं कि अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान, अत्यन्त सूक्ष्म गति या कर्म और प्रकृति की अपने मूल स्वरूप (अत्यन्त सूक्ष्म) में स्थिति हो जाती है। उस समय उनके मध्य पारस्परिक भेद के लक्षण समाप्त हो जाते हैं। इसलिए हमने उसे साम्यावस्था कह दिया है। उनकी भिन्न-भिन्न सत्ताओं का सर्वथा अभाव, नाश अथवा मूलोच्छेदन नहीं होता। वे इतनी सूक्ष्म स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं कि उनमें और अधिक सूक्ष्मता की क्षमता ही नहीं रहती। यह उनकी सूक्ष्मता की पराकाष्ठा होती है। वहां सूक्ष्मता की अन्तिम अवस्था में सूक्ष्मतम रूप में ज्ञान, कर्म (गति) और स्थिरता तीनों विद्यमान रहते हैं। प्रकृति के इस विशुद्ध रूप में चेतन ब्रह्म के साथ सम्बद्धता के कारण वह भी ज्ञान रूप चेतन सी हो जाती है। आगे विशेष क्रिया, गति या कर्म के अन्तर्गत ज्ञान और कर्म का सम्बन्ध होता है जिसे हम प्राण कहते हैं। तब चेतन द्वारा व्याप्त स्थिति में चेतनवत् सी बनी हुई प्रकृति गति और कर्म रूप में परिणत हो जाती है। तमोमयी प्रधानता के अन्तर्गत प्रकृति में स्थिति या बल उत्पन्न होता है। अब आगे और अधिक सूक्ष्मावस्था को प्राप्त होने में प्रकृति अवगुण्ठित अथवा असमर्थ हो चुकी है। वह एक प्रकार से स्थिर सी हो गई है या बल रूप में ठहर सी गई है। अपने मौलिक स्वरूप में स्थिर सी होगई है। स्थिरता में बल आता है। जैसे निद्रा के पश्चात् मनुष्य स्वस्थ होकर उठता है वैसे ही तामसी अवस्था में प्रकृति बलवती बनती है और सृष्टि के सृजन के लिए सशक्त और उपयुक्त हो जाती है। प्रकृति की ये तीनों अवस्थाएं चेतन के अत्यन्त समीप होती हैं। इस काल में प्रकृति के ज्ञान, गति तथा बल दृष्टिगोचर नहीं होते। वे तीनों गुण अथवा लक्षण एक प्रकार से घुल मिल कर साम्यावस्था में होते हैं। प्रकृति की यह अवस्था अनिर्वचनोय सी ही होती है।

प्रश्न हो सकता है कि सृष्टि के आरम्भिक सृजन काल में प्राण की उत्पत्ति की कल्पना युक्तिसंगत किस प्रकार है ?

शरीरगत प्राण का उपादान कारण वायु महाभूत है। उसके ही शरीर में प्राण-भाव को प्राप्त होने पर शेष भूत उपादान के रूप में सहकारी बनते हैं। वायु ही कर्म और गति का हेतु होता है। स्वयं वायु महाभूत का उपादान कारण स्पर्श तन्मात्रा अथवा सूक्ष्मभूत होता है और पंचतन्मात्राओं का उपादान अहंकार है। प्रकृति सत्त्व, रज तथा तम धर्मा है।उसका यह तमोगुण ही अहंकार के.रूप:में परिणत होकर कार्य-भाव को प्राप्त होता है। परम्परागत प्रकृति ही प्राण के रूप में पहुंचती है। वास्तव में प्राण प्रकृति में ही सूक्ष्म रूप में स्थित था। जब प्रकृति में सृजनरूप कर्म प्रारम्भ होता है तो उसका अंश विशेष या गुण विशेष गति के रूप में प्रगट हो उठता है और सूक्ष्म रूप से स्थूल रूप में आ जाता है। यह प्रलयकाल की अवस्था में भी चेतनब्रह्म के सन्निधान में सूक्ष्मरूप से क्रिया का हेतु बना हुआ था। जैसे मानव शरीर केवल प्राण से ही गतिशील बना रहता है और प्राण स्वयं चेतन आत्मा से गतिशील रहता है वैसे ही प्रकृति भी जड़ होती हुई चेतन ब्रह्म के संयोग से गतिशील बनी हुई है। इस गति को चाहे आप कर्म कहो या शक्ति कहो या कुछ और नाम रख लो परन्तु हमने इस गति का नाम प्राण रखा है।

प्राण ७० प्रकार का है। आदि प्राण वह है जो प्रकृति की साम्यावस्था में रह कर उसमें कम्पन का कारण बनता है। ब्रह्म और प्रकृति के संयोग से इसकी उत्पत्ति होती है। इसका सर्वप्रथम उपादान कारण प्रकृति है। प्रकृति और ब्रह्म का नित्य संयोग है। अतः प्राण भी सदा से चला आ रहा है। यही संयोग सूक्ष्मप्राण की उत्पत्ति में कारण बनता है। परन्तु यह प्राण प्रकृति में ही होता है। प्रकृति और ब्रह्म के संयोग से यह प्राणशक्ति प्रकृति में ही उत्पन्न होती है। यह प्राणशक्ति अनादि काल से ही चली आ रही है और अनन्त रूप से चलती रहेगी और अनन्त काल तक इसका गमनागमन बना रहेगा। महत्तत्त्व की सृष्टि में यह सूक्ष्मप्राण शक्ति सात्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीन प्रकार की हो जाती है।

कारण शरीर में व्युत्थान और निरोध सम्बन्धी अवस्थाओं में व्युत्थान की दशा में प्राण रजःप्रधान और निरोधावस्था में सत्त्व की प्रधानतायुक्त रहता है। इन दोनों से जो भिन्नावस्था है वह तमः प्रधान है। इन तीनों अवस्थाओं में प्राण का व्यापार भिन्न-भिन्न होता है। सूक्ष्म जगत या अहंकार की सृष्टि में दस प्रकार के प्राण हो जाते

हैं जो सत्त्व रज और तम के भेद से तीस प्रकार के हो जाते हैं। इसी प्रकार स्थूल जगत में व स्थूल शरीर में तीस प्रकार के प्राण होते हैं। प्रथम प्राण प्रलयकाल की अवस्था में, छः प्रकार के महत्तत्त्व की सृष्टि में हैं, ३ प्रकार के कारणशरीर की सृष्टि में हैं। तीस प्रकार के प्राण अहङ्कार की सृष्टि में तथा तीस प्रकार के प्राण स्थूल भूतों की सृष्टि में व स्थूल शरीर में होते हैं।

इस प्रकार कुल मिलाकर ७० प्रकार के प्राण हैं जिनमें त्रेसठ प्रकार के प्राण जीवात्मा को भोग और अपवर्ग में सहायक होते हैं। सात प्रकार के समष्टि प्राण न जीवात्मा के लिए भोग वाहक हैं और न ब्रह्म के लिए। केवल प्रकृति की आदि सृष्टि के निर्माण में सहायक होते हैं जिसे हम ब्राह्मी सृष्टि कहते हैं। इसके आगे व्यष्टि पदार्थों की उत्पत्ति और जैवी सृष्टि का प्रारम्भ होता है। दोनों प्रकार की सृष्टियां चलती हैं अर्थात् ब्राह्मी और जैवी। महत्तत्त्व की सृष्टि में ६ प्रकार के प्राणों का वर्णन करके आहङ्कारिक सृष्टि में सात्विक राजस और तामस भेद से तीस प्रकार के प्राणों का कथन करेंगे। सूक्ष्म जगत में दश इन्द्रियों के द्वारा पंच तन्मात्राओं के भोग होते हैं, इन दशों इन्द्रियों के साथ दश प्राणों का सम्बन्ध रहता है। इनके बिना इन्द्रियां भोग नहीं कर सकतीं इसीलिए सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म प्राणों का उल्लेख आगे करेंगे। कारण शरीर के अन्तर्गत चित्त में सात्विक, राजस, तामस तीन प्रकार के प्राण होते हैं। समष्टि चित्त में प्राण महत्तत्त्व के कार्य रूप में रहता है। समष्टि बुद्धि और समष्टि अहंकार में भी प्राण कार्य करता है। ये तीनों प्राण आत्मा के लिए भोग का हेतु नहीं होते। ब्रह्म में भी भोग की बात नहीं बनती। अतः इन समष्टियों में ये सात प्रकार के प्राण किसी भी प्रकार के भोग का सम्पादन नहीं करते। सर्व व्यापक और निष्क्रिय होने से ब्रह्म में भी भोग नहीं होता। उस प्रारम्भिक सृष्टिकाल में जीवात्मा का प्रादुर्भाव या जीवात्मा संज्ञा भी नहीं होती। यह सात प्रकार के प्राण प्रकृति की बदलती हुई अवस्थाओं में क्रिया या गति का हेतु बने रहते हैं।

इसके पश्चात् प्राण परिणामभाव को प्राप्त होता हुआ समष्टि रूप से व्यष्टि भाव को प्राप्त होकर कारण शरीर में पहुंचता है। तदनन्तर सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर में पहुंचकर साठ रूपों में विभक्त हो जाता है तथा तीनों शरीरों को भोग और अपवर्ग प्रदान करने में महान् उपकारक होता है। भोग देने के निमित्त इन तीनों स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में इसकी यथाक्रम सात्विक, राजस और तामस संज्ञाएं ६३ हो जाती हैं। किन्तु समष्टिरूप प्रारम्भिक सात प्रकार के प्राणों की संज्ञा त्रित्वभावयुक्त नहीं

होती क्योंकि वे न तो भोग के हेतु होते हैं और न उनका जीवात्मा से कोई सम्बन्ध होता है।

ब्रह्म तथा जीवात्मा दोनों में समष्टि वा व्यष्टि स्तर पर कोई कार्य-कारण सम्बन्ध अथवा अवस्थान्तर परिणाम तो होता नहीं। तीनों अवस्थाओं में दोनों चेतनों में एक समानता ही रहती है। कोई भी अन्तर उनकी चेतना तथा व्यापकता में नहीं होता। हम लोग परमात्मा में किसी भी प्रकार का परिणाम न मान कर केवल चित्त के देश में ही आत्मसंज्ञा मानते हैं। समष्टि चित्त तो कर्मान्तरों में परिणत होता हुआ गमन करता है। इसी प्रकार समष्टि प्राण भी परिणत होता हुआ सूक्ष्म से स्थूल अवस्था में पहुंचता है। प्रकृति और प्राण दोनों ही अवस्थान्तर दशा को प्राप्त होने वाले हैं किन्तु चेतन ब्रह्म में कोई अवस्थान्तर परिणाम कभी नहीं होता।

शंका—यदि प्रकृति के ही सर्व समष्टि परिणाम मान लिए जाएं और समष्टि पदार्थों के एक देश की संज्ञा चित्त, बुद्धि, अहंकार और प्राण रख ली जाए तब क्या आपत्ति होगी ?

समाधान—इसमें असंगति की आपत्ति यह होगी कि ज्ञान के हेतु चित्त और बुद्धि ही देखने में आते हैं। इनमें ज्ञान की वृद्धि, ह्रास तारतम्य और सत्यासत्यता अनुभव में आती हैं। क्या सर्वव्यापी पूर्ण ब्रह्म या परमात्मा को भी ज्ञान का हेतु मानोगे तब तो परमात्मा और जीवात्मा में क्या भेद रहेगा ? चाहे समष्टि पदार्थ हो या व्यष्टि, परिणामी तो सभी हैं। एक अवस्था से दूसरी में परिणत होने वाले हैं। चेतन ब्रह्म को समष्टि और व्यष्टि दोनों रूपों में मानना तो ठीक समझ में आता है क्योंकि चित्त के देश में जो ब्रह्म की आत्मसंज्ञा रखी है वहां किसी प्रकार का परिणाम क्रम नहीं हुआ है और न यह अभिप्रेत ही है। अवस्थान्तर भेद भी नहीं हुआ। केवल व्यवहार की सिद्धि के लिए समष्टि व्यष्टि कथन में आ गया है। अन्यथा समष्टि एवं व्यष्टि दोनों स्थानों में एक ही चेतन सत्ता विद्यमान है। चित्त के प्रदेश में ही परमात्मा की आत्मसंज्ञा रखी है। वहां किसी भी प्रकार का परिणाम या अवस्थान्तर भेद नहीं हुआ है। चित्त के प्रदेश में चेतन की क्रिया भिन्न है और प्रकृति के देश में चेतन के द्वारा भिन्न क्रिया है। प्रकृति की बदलती हुई सब अवस्थाओं में सर्वत्र एक ही चेतन है। वही विभु और व्यापक है परन्तु पदार्थ भेद से क्रियाओं का भेद होता चला जाता है। जैसे एक ही आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी की भिन्नता होते हुए भी एक समान ही रहता है। स्वयं आकाश में कोई भेद नहीं होता, यद्यपि पदार्थों में भेद होते चले जाते हैं।

परन्तु प्राण में तो परिणामक्रम है। उसमें स्थूल सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम अवस्थाएं रहती हैं। प्रकृति परिणत होती हुई कई अवस्थाओं में से होकर पार्थिवभाव तक पहुंचते-पहुंचते अत्यन्त स्थूल हो जाती है। उस स्थिति में प्रकृति साम्यावस्था में जो सूक्ष्मतम प्राण था वह भी प्रकृति के साथ-साथ रूपान्तरित होता हुआ वायु के रूप में शरीर में पहुंचकर स्थूलतम प्राण बन गया। कहा भी है 'सप्तश्च लोका: येषु विचरन्ति प्राणा:'। प्राण घटाकाश या मठाकाशवत् नहीं है किन्तु कार्य-कारणभाव सहित गति करता है। इसी प्रकार चित्त में भी कार्य-कारण रूप से अवस्थान्तर होता रहता है तभी ये दोनों भोग का साधन बनते हैं। चेतन जीवात्मा और परमात्मा के समान व्यष्टि समष्टि की बात प्राण में नहीं बनती और न सिद्ध ही होती है। हमने अपने ग्रंथों में समष्टि, व्यष्टि शब्दों का प्रयोग परमात्मा और आत्मा के सम्बन्ध में भी किया है और प्रकृति अथवा उसके कार्यों के सम्बन्ध में भी किया है। परमात्मा और आत्मा के विषय में परिणाम रहित समष्टि व्यष्टि शब्दों का भाव समझना चाहिए। ब्रह्मोपनिषद् का भाव यथार्थ रूपेण समझना चाहिए जिसका भावार्थ स्पष्ट है—यह प्राण ही आत्मा समझना चाहिए, यही आत्मा की महिमा है। यह प्राण ही देवताओं की आयु है। इसके न रहने से मरण होता है'। यह इसी प्रकार मनुष्यों के सम्बन्ध में भी लागू होता है।

इति ब्रह्मनिष्ठराजयोगाचार्योपाधिधारिणा श्रीयोगेश्वरानन्द सरस्वतिस्वामिना प्रणीते प्राणविज्ञानाख्ये ग्रंथेऽस्मिन् प्राणपरम्परात्मको द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः।

(१) प्राणो ह्येष आत्मा आत्मनो महिमा वभूव देवानामायुः स देवानां निधनम्
—ब्रह्मोपनिषद।

तृतीयोऽध्यायः

अहंकार की सृष्टि में स्पर्श तन्मात्रा से प्राण की उत्पत्ति

महत्तत्त्व की सृष्टि करोड़ों वर्षों तक विकासभाव को प्राप्त होती रहती है। जीवात्माओं को शान्ति और आनन्द की अवस्था में बनाए रखती है। उसके अनन्तर अहंकार की सृष्टि की रचना होती है। इसे सूक्ष्म जगत् और स्वर्ग लोक अथवा पंचतन्मात्राओं का लोक भी कहते हैं। इस आहंकारिक सृष्टि में यह सूक्ष्म शरीरों को भोग प्रदान करती हैं। जब महत्तत्त्व अहंकार के रूप में परिणामभाव को प्राप्त होता है तो उसके द्वारा आहंकारिक सृष्टि का निर्माण होता है और सात्विक, राजसिक और तामसिक भेद से त्रित्वभाव उत्पन्न होता है। सात्विक और राजसिक अहंकार मिलकर मन को उत्पन्न करते हैं। ये दोनों समभाव होते हैं। तत्पश्चात् सत्त्वप्रधान रज और गौण रूप में तम मिलकर ज्ञानेन्द्रियों को उत्पन्न करते हैं और तदनन्तर रजः प्रधान सत्त्व और गौण रूप में तम द्वारा कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। तदुपरान्त तमः प्रधान सत्त्व और गौण रूप में रज मिलकर सूक्ष्म भूतों को उत्पन्न करते हैं। इन सूक्ष्म भूतों को सांख्य दर्शन में पंचतन्मात्रा कहा गया है। ये पंचतन्मात्राएं सूक्ष्म शरीरों का निर्माण करती हैं। जब आकाशमण्डल में सूक्ष्म शरीरों की उत्पत्ति होती है तब सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म भूत वायु अथवा स्पर्श तन्मात्रा से सूक्ष्म शरीरगत प्राण की उत्पत्ति होती है। यही सूक्ष्म प्राण शरीर कें जीवन का और गति का आधार बनता है और सूक्ष्म शरीर को भोग प्रदान करने में मुख्य हेतु रहता है। इस आहंकारिक सृष्टि को स्वर्ग लोक के नाम से भी कथन किया जाता है। यह सूक्ष्म जगत् को रच कर करोड़ों वर्ष तक सूक्ष्म शरीर के भोग सम्पादन कराती है। इस सृष्टि का उपभोग पुण्य-संस्कारयुक्त स्वर्गवासी आत्माएं किया करती हैं अर्थात् सूक्ष्म शरीर द्वारा इस लोक में रहकर पंचतन्मात्रिक पदार्थों का उपभोग करती हैं। सूक्ष्म शरीरों का यह भोग प्रलय काल तक चलता है क्योंकि प्रलय काल में सूक्ष्म जगत् भी अपने उपादान कारण में विलीन हो जाता है। तभी तो क्रमिक प्रलय होगी और सर्व कार्यात्मक जगत् अपने कारण रूप प्रकृति में लीन हो जाएगा अन्यथा प्रलय ही सिद्ध न होगी। प्रलय अवश्यम्भावी है क्योंकि वर्तमान में सर्व पदार्थों में परिणामक्रम दृष्टिगोचर होता है।

अतः एक समय ऐसा निश्चित रूप से आना चाहिए जब यह वर्तमान संसार जीर्ण-शीर्ण होकर अपने कारण में समा जाएगा और कारणमयी अवस्था में चार अरब वर्ष तक नवीन भाव को प्राप्त होते हुए पूर्ववत् प्रवाहरूपेण पुनः लौटेगा। प्रलय काल की अवस्था में आत्मा का भी भोग नहीं रहता क्योंकि आत्मा के भोग के साधनभूत सब करणों का अभाव हो जाता है। करणों के बिना किसी प्रकार का भोग प्राप्त नहीं हो सकता। सूक्ष्म शरीर के निर्माण तथा स्थिति में सूक्ष्म भूत अथवा पंचतन्मात्राएं उपादान कारण होती हैं। स्पर्श तन्मात्रा और प्राण दोनों का भेदाभेद और कार्य-कारण भाव सम्बन्ध होने से सूक्ष्म भूत कारण और सूक्ष्म प्राण कार्य हैं। पांच सूक्ष्म भूत संघात को प्राप्त होकर सूक्ष्म शरीर का निर्माण करते हैं। तत्पश्चात् वायु (स्पर्श तन्मात्रा) प्राण के रूप में परिणत होकर उसमें गति का हेतु बनती है। यह गति करोड़ों वर्षों तक प्राण के रूप में सूक्ष्म शरीर के जीवन का आधार बनी रहती है। अतः सूक्ष्म भूत तथा प्राण को पृथक् पृथक् ही मानना चाहिए। प्रकृति की साम्यावस्था में जो सूक्ष्मतम क्रिया सी बनी रहती है उसे हमने प्रकृति का गुण या धर्मविशेष माना है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के हृदय में जो गति है वह वायुभूत का धर्मविशेष है। इस गति का नाम प्राण है। इस विश्व के हृदय में वायु प्राण रूप में स्थित है।[1] सूक्ष्म तथा पार्थिव दोनों शरीरों में प्राणों के पांच २ भेद हैं, अन्तर केवल सूक्ष्म तथा स्थूल का ही है। भोग दोनों के समान हैं क्योंकि दोनों में इन्द्रियां वर्तमान रहती हैं। दोनों शरीरों का अंगविन्यास भी समान ही है, केवल स्थूल तथा सूक्ष्म का भेद होता है। भोग भी दोनों के समान ही है क्योंकि दोनों में समान इन्द्रियां वर्तमान रहती हैं अतः इनमें प्राण भी समानरूपेण ही माना गया है। दोनों शरीरों में दस दस प्रकार का प्राण मानना युक्तिसंगत है। प्राचीन आचार्यों ने भी इसी प्रकार माना है। जब स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर की स्थिति है तब स्थूल शरीर के प्राणों के समान ही सूक्ष्म शरीर में भी प्राण विद्यमान रहेगा। इस भूलोक में स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनों मिलकर भोग भोगते हैं। सूक्ष्म लोक में सूक्ष्म शरीरमात्र होता है। इसलिए वहां केवल सूक्ष्म भोगों का उपभोग होता है। स्थूल शरीरवत् सूक्ष्म शरीर में भी दस प्रकार का प्राण होना चाहिए। सूक्ष्म शरीर के माध्यम से ही भोग सम्भव है। सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व तो मानना ही होगा और उसकी सत्ता भी स्थूल शरीर से भिन्न माननी होगी। किया हुआ कर्म कभी निष्फल नहीं जाता। जीवन में मानव अनेक कार्य करता है किन्तु सबका फल भोग नहीं पाता, इसलिए इस जीवन के पश्चात् कर्म-फल भोग के लिए अन्य शरीर मिलना चाहिए। जब अन्य शरीरों की प्राप्ति मानेंगे तो कर्मों के विपाकरूप

(१) "वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य"। मुण्डकोपनिषद् २-१-४

संस्कारों को भी शरीर के साथ जाना आवश्यक माना जायेगा। इन संस्कारों के वाहक को ही हम सूक्ष्म शरीर कहते हैं। सत्रह पदार्थ मिलकर सूक्ष्म शरीर का निर्माण करते हैं। पांच तन्मात्राएं, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि के संघात को हमने सूक्ष्म शरीर माना है। तद्गत सूक्ष्म भूतों में जो वायु भूत है, वही प्राणभाव को प्राप्त हुआ है। सूक्ष्म प्राण के बिना भोगों का भोग नहीं हो सकता। सूक्ष्म प्राण कारणशरीर में रहता है। इसमें आत्मा का निवास है। पूर्वाचार्यों ने भी सूक्ष्म शरीर में पांच प्राणों को माना है। प्रश्नोपनिषद् में प्राण की महिमा का इस प्रकार कथन है—"कण्ठ में जो उदान प्राण है यह पुण्य कर्म करने वालों को स्वर्गलोक प्राप्त कराता है और पापियों को नरक में ले जाता है। जब दोनों पुण्य और पाप समान होते हैं तब पृथिवी लोक अर्थात् मनुष्य जन्म की प्राप्ति का हेतु बनता है।"[1] इस प्रकार उदानादि प्राणों का शरीर से बहिर्गमन मरण के पश्चात् माना है। इसी प्रकार उपनिषत्कार ने अन्यत्र भी कहा है कि चित्त से ही प्राण क्रिया होती है। तेज से युक्त प्राण के द्वारा आत्मा का जैसा संकल्प होता है वह प्राण को उसी संकल्पित लोक में ले जाता है।[2] चित्त से सूक्ष्म प्राण सारे शरीर में फैलता है और यह प्राण तेज से युक्त है और यह मानव के संकल्प के अनुसार उसी स्थान में ले जाता है। चित्त में आत्मा का वास है और वहीं दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध से सूक्ष्म प्राण की उत्पत्ति होती है। उपनिषद् में प्राण का शरीर से गमन माना है। सूक्ष्म जगत् में सूक्ष्म प्राण गमन करता है। अब प्रश्न उठता है कि जब प्रलय काल की अवस्था में भी प्रकृति में गति मानते हैं और प्रकृति ही सृजन काल में अवस्थान्तर में परिणत होती हुई आगे चलती है तब सूक्ष्म शरीर के प्राण को भी एक अवस्थान्तर परिणाम का रूप कह सकते हैं। हमारा मन्तव्य यह है कि कार्य कारण में भेद भी है अभेद भी है। जैसे कपास वस्त्र के प्रति उपादान कारण होती है उसी प्रकार परिणामों में परिणत होती हुई प्रकृति भी अपने आने वाले कार्यों के प्रति उपादान कारण बनती चली जाती है। चेतन ब्रह्म के सन्निधान से उसमें गति होती है। जिसको हम सूक्ष्म प्राण कहते हैं वह गति परम्परागत प्रकृति से ही आई है। वह पूर्व सूक्ष्म भूत के रूप में थी पश्चात् प्राण के रूप में परिणत हुई। शरीर का भोग इसी प्राण के गतिशील होने पर होता है।

---

(१) अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्य लोकं नयति ।
पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ।। प्रश्नोपनिषद् प्र० ३—७

(२) यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः
सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ।। प्रश्न उ०—प्र० ३—१०

इसके अभाव में भोग और जीवन दोनों ही समाप्त हो जाते हैं। भौतिक देहावसान के पश्चात् यह प्राण ही सूक्ष्म शरीर को आकाशमण्डल में उठाए फिरता है।

अहंकार की सृष्टि में प्राण का महत्त्व—अहंकार की सृष्टि में जब तन्मात्राएं संघात को प्राप्त होकर सूक्ष्म शरीर का निर्माण करती हैं तब सूक्ष्म शरीर में जो स्पर्श तन्मात्रा है वह परिणामभाव को प्राप्त होकर सूक्ष्म प्राण के रूप में जीवन का आधार व सहकारी साधन बनती है। प्राण के बिना सूक्ष्म शरीर में कोई भी कर्म नहीं हो सकता और न कोई भोग तथा जीवन का आधार ही हो सकता है। प्राण ही श्वास प्रश्वास, क्रिया, गन्ध और रस तन्मात्राओं की उपलब्धि, आहार का पाक और शरीर में शक्ति प्रसार आदि का कार्य करता है। सूक्ष्म प्राण शरीर के अंग प्रत्यंगों में सर्व कर्म करता है। शरीर के विभिन्न अंगों के अन्तर्गत इसकी दशक संज्ञा हो जाती है। शारीरिक अंगों के भेद से उनकी अनुकूलतानुसार इन प्राणों का कार्य भी भिन्नता ग्रहण कर लेता है। सर्वप्रथम कार्य व्यान के रूप में समस्त शरीरव्यापी होकर ज्ञान का संचार और गति का प्रसार करता है। व्यान भी सत्त्व-रज-तम के भेद से तीन प्रकार का होता है।

(१) सत्त्वप्रधान व्यान नामक प्राण का सूक्ष्म शरीर में कार्य—सत्त्व प्रधान व्यान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है और सूक्ष्म शरीर के सब अंग-प्रत्यंगों में भी कार्यरत रहता है। शरीर में वर्तमान आकाश तत्त्व को तथा समस्त शरीर को व्याप्त किए रहता है। समाधि की अवस्था में यह समस्त शरीर में ज्ञान और स्पर्श का वाहक होता है। सत्त्व प्रधान होने से उस काल में आनन्द की धारा-सी प्रवाहित करता रहता है।

(२) रजःप्रधान व्यान—जब सूक्ष्म शरीर आकाश में गमन करता है तब व्यान उसको गति प्रदान करता है। उत्तेजनात्मक आवेश अथवा क्रोधादि के अवसर पर विशेष क्षोभ के कारण सन्ताप और विनाशकारी कार्य की क्षमता रखता है। अपनी तीव्र गति से उत्तेजना की स्थिति में बुद्धि को क्षुब्ध और भ्रान्त करने में समर्थ होता है। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या स्वर्ग में भी क्रोधादि आवेश होते हैं ? जब वहाँ भी मन बुद्धि इन्द्रियों द्वारा भोग होते हैं तो कभी न कभी इनमें क्रोधादि का होना स्वाभाविक एवं सम्भव ही है क्योंकि ये भी इनके स्वाभाविक धर्म ही हैं। स्वभाव का विनाश नहीं होता। जब स्थूल शरीर में इनकी विद्यमानता से इन्कार नहीं किया जा सकता है तब सूक्ष्म शरीर में भी कम से कम सम्भावना तो हो ही सकती है। अतः स्थूल शरीर में क्षोभों की उपस्थिति रहने से सूक्ष्म शरीर में भी उनकी उपस्थिति वैसी ही

माननी पड़ेगी जैसी स्थूल शरीर के भोगों के साथ। सूक्ष्म शरीरों के भी यथावत् भोग होते ही हैं। जब सूक्ष्म शरीर स्वर्ग लोक या अहंकार के लोक में होता है और प्रलय के पश्चात् आहंकारिक सृष्टि के अन्तर्गत सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है उस काल में व्यान का कार्य मानना होगा क्योंकि जीवात्मा उस समय इन्द्रियों और मन-बुद्धि के द्वारा तन्मात्राओं का उपभोग करता है। वह रजोगुण की प्रधानता में प्रवाहित होता है।

(३) **सूक्ष्मशरीरगत तमःप्रधान व्यान**—सूक्ष्म शरीरों के भोगों के समान उसकी जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाएं भी माननी चाहिए। सुषुप्ति काल में भी तामसिक व्यान का कुछ न कुछ कार्य होगा ही। ज्ञान और गति व्यान के धर्म हैं अतः इसमें कुछ न कुछ गति बनी रहती है। निरन्तर एक समान गति के बने रहने से भी तामसी स्थिति वन जाती है। उस स्थिति में विशेष क्षोभादि कार्य तो नहीं होते। निरन्तर एक ही सी स्थिति बनी रहती है। उस समय तम की प्रधानता रहती है। सात्विक अवस्था में ज्ञान का विकास होता रहता है, कभी न्यून और कभी अधिक। किन्तु तामसी स्थिति में उसकी न्यूनाधिकता नहीं होती। व्यान एक समान ही कार्य करता रहेगा। पाचनादि क्रिया तथा रसों का निर्माण उस काल में होता रहता है।

उदान प्राण का सूक्ष्म शरीर में कार्य—उदान का निवास तथा कार्य सूक्ष्म शरीर के प्रदेश में होता है। यह श्वास प्रश्वास का आदान प्रदान करता है। भुक्तपीत पदार्थों को अंदर धक्का देकर भीतर प्रक्षेपण करता है। इसके सब कार्य स्थूल उदान प्राण के समान होते हैं। आहंकारिक सृष्टि में स्थूल शरीर और स्थूल प्राण नहीं होते अतः उदान के द्वारा भोग प्रदान करने में कुछ अन्तर होता है। अहंकार के लोक में रह कर यह स्वतंत्ररुपेण कार्य करता हुआ भोग प्रदान करता है। हृदयस्थ प्राण और व्यान के साथ इसका विशेष सम्बन्ध है। इसमें उपनिषद् प्रमाण है। हृदय में पांच सुषि अर्थात् छिद्र होते हैं। इन छिद्रों को पांच दिव्य सुषियां कहा है।[1] उदान का सम्बन्ध सिर और वक्षस्थल के साथ भी रहता है, क्योंकि वह इनके कार्यों में सहायक रहता है। यह प्राण का उत्कर्षण करके श्वसन क्रिया कराता है। मुख सम्बन्ध सर्व कार्यों में योग प्रदान करता है तथा वाणी और रसनेन्द्रिय के कार्य और भोग में सहायक होता है। उपप्राणों के साथ सम्बन्ध रहने से उनके कार्यों में सहायक रहता है क्योंकि उनके

(१) तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पंचदेवसुषयः स योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणः।
छान्दोग्योपनिषद्, ३-१३-१

साथ इसका विशेष और समीपवर्ती सम्बन्ध है। मस्तिष्क और हृदय की ज्योतियों का आदान-प्रदान करने में सहायक होता है। जब योगी इस पर संयम करता है तब भूख, प्यास, निद्रा, तन्द्रा उसे पीड़ित नहीं करतीं।

शंका—क्या अहंकार के लोक में उदान प्राण के द्वारा प्राणायाम की आवश्यकता रहती है?

समाधान—हमारा अनुभव तो यह है कि स्वर्ग अथवा अहंकार के लोक में प्राणायाम की आवश्यकता नहीं होती। वहां तो केवल सूक्ष्मेन्द्रियों की ही प्रधानता रहती है अन्यथा इस भूतल लोक और स्वर्ग लोक में कोई भी अन्तर नहीं रहेगा। सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत् के भोगों में इस लोक की अपेक्षा बहुत अन्तर होता है। अहंकार के लोक में सूक्ष्म शरीर के साथ केवल कारण शरीर का ही सम्बन्ध रहता है। कारण शरीर द्वारा अविद्यमान इन्द्रियों के भोग महत्तत्व की सृष्टि में नहीं होते। केवल शान्ति और आनन्द का अथवा स्वरूप और ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है अन्यथा जब तक कारण शरीर का स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के साथ सम्बन्ध बना रहता है तब तक वह इन्द्रिय सङ्गत भोग भोगता रहता है और सूक्ष्म जगत् के सूक्ष्म भोगों का भी सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा रसास्वादन करता रहता है।

(१) **सूक्ष्म शरीर में सत्वप्रधान उदान का कार्य**—उदान समाधि की अवस्था में सहायक होता है। सूक्ष्म शरीरस्थ मन एवं बुद्धि द्वारा ज्ञान सम्पादन करने के काल में शान्त भाव से काम करता है। स्वर्ग लोक में व्युत्थान और निरोध बने रहते हैं अतः निरोध काल में इसके व्यापार में भी अन्तर होगा। निरुद्धावस्था में यह उदान भी कुछ निरुद्ध होता चला जाएगा। सत्वविशिष्ट तथा निरोध की स्थिति में इसकी गति अत्यन्त सूक्ष्म और मन्द पड़ जाएगी। इसका बोध भी नहीं रहेगा परन्तु तमः प्रधान अवस्था में इसकी गति बलवती, एकाकार और निरन्तर बनी रहती है और ध्यान और समाधि में विक्षेप का हेतु नहीं होती। सूक्ष्म जगत् अथवा स्वर्ग लोक में ध्यान समाधि की अपेक्षा नहीं रहती। वहां इन्द्रियों के अपने भोगों से तृप्ति तथा उपराम हो जाने पर मन और बुद्धि की रुचि तथा प्रवृत्ति आत्मा और परमात्मा की ओर ही हो जानी चाहिए। इन्द्रियों के भोग उदान को कुपित सा बनाए रखते हैं, इससे इस प्राण की गति भी तीव्र हो जाती है क्योंकि वह इन्द्रियों के अनुकूल बना रहता है और वैसा ही व्यापार भी करने लगता है। जब इसका सम्बन्ध अभ्यासीगण आत्मा और परमात्मा से करते हैं तब यह शान्त हो जाता

है और चेतना की अनुभूति करने लगता है। उस अवस्था में ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो यह चेतना के अन्दर बाहर होकर ही निकल रहा है और चेतन के स्पर्श का अनुभव कर रहा है। यही चेतन के स्पर्श द्वारा साक्षात्कार का हेतु होता है। उस स्थिति में ऐसा अनुभव होने लगता है मानों सम्पूर्ण शरीर में चेतना जागृत हो रही हो। जीवन का आधार भी यही बना हुआ है। उदान के गमनागमन के अभाव में चेतन आत्मा भी निष्क्रिय हो जाता है। चेतना की अनुभूति भी इसी के द्वारा होती है क्योंकि यही जीवन के स्थिर रखने में प्रधान कारण है। यदि इसे बन्द कर दिया जाए तो ऐसा अनुभव होने लगता है मानो चेतना इसको छोड़कर उत्क्रमण करना चाहती है। शरीर में चेतन की प्रतिष्ठा और स्थिति इसी के आधार पर है। योगी को इसी के द्वारा विशेष रूप से चेतनात्मा की अनुभूति होती है। यही अन्य प्राणों का भी प्रतिष्ठापक है। योगी को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उदान की चेतना उदान ही लेकर स्थित है। हृदय और मस्तिष्क का नित्य सम्बन्ध भी यही बनाए रखता है। सूक्ष्म और कारण शरीर को मिलाने वाला साधन भी यही है। सूक्ष्म वायुभूत सर्वप्रथम इसी रूप में परिणत होकर प्राण रूप में स्थित होता है।

(२) **सूक्ष्म शरीर में रजःप्रधान उदान का कार्य**—रजःप्रधान उदान का विशेष कार्य जागृत अवस्था में ही रहता है। भोग सम्पादन करना इसी का मुख्य कार्य है। इसकी गति-विधि इन्द्रियों के भोगों के अनुसार भी हो जाती है। स्वर्गलोक में स्पर्श और कर्मेन्द्रियों के भोग जैसे मूत्रविसर्जन तथा अन्य कार्य ये दोनों इन्द्रियां ही करती हैं। देवांगना समागम रूपी भोगात्मक कार्य वहां नहीं होता अन्यथा स्थूल जगत् तथा स्थूल शरीर के भोगों और स्वर्गलोक के भोगों में कोई अन्तर नहीं रहेगा। बहुत से आचार्यों ने स्वर्गलोक, 'हेविन' (Heaven) और बहिश्त, जन्नत आदि में देवताओं, अप्सराओं, हूरों, परियों आदि का भोग माना है परन्तु वह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। हमारी मान्यतानुसार ऐसा कोई लोक सम्भव नहीं हो सकता जो युक्ति द्वारा यह प्रमाणित या सिद्ध कर सके कि स्थूल इन्द्रियों के अभाव में स्थूल भोग सम्पाद्य हो सकते हैं। ऐसा मानने पर वहां सन्तानोत्पत्ति, जन्म मरणादि भी होना चाहिए। तब इस लोक और परलोक में विशेषता क्या रहेगी। ऐसे लोक में जाने के लिए क्यों कोई प्रयत्न करेगा ? स्त्री-पुरुष का संभोगसुख तो इस लोक में भी उपलब्ध है। उस लोक में तो केवल सूक्ष्म गंध और रस का ही उपभोग माना जा सकता है क्योंकि उनकी उपलब्धि तो केवल संकल्प मात्र से ही हो जाती है।

(३) **सूक्ष्म शरीर में तमःप्रधान उदान**—तामसी उदान का मुख्य कार्य निद्रा की स्थिति में ही रहता है। निद्रावस्था में इन्द्रियभोगों का अनुभव नहीं रहता है। श्वास

और प्रश्वास की क्रिया व आन्तरिक पाचन क्रियाएं आदि निरन्तर होती रहती हैं। इसी प्रकार नाड़ियों की धड़कन तथा रक्त परिभ्रमण आदि कार्य भी अबाधित रूप से स्वयमेव होते रहते हैं क्योंकि इनमें किसी प्रकार के सांसारिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। उदान की यह तमःप्रधान शक्ति पार्थिव शरीर के संरक्षण में निद्रावस्था के अन्तर्गत भी कार्यसंलग्न रहती है।

सूक्ष्म शरीरस्थ प्राण का आहंकारिक सृष्टि में कार्य—प्रमुख रूप से नैसर्गिक प्राण का सम्बन्ध हृदय के साथ है। यह सामान्यतया सम्पूर्ण शरीर को बाह्याहार प्रदान करता है। इसका सम्बन्ध उदान प्राण तथा समान प्राण के साथ है। सूक्ष्म शरीर का पोषण भी इससे होता हैं और जीवनी शक्ति के संचार का केन्द्र भी यही है। हृदय की गति के साथ इसका विशेष सम्बन्ध रहता है। यदि किसी भांति कारणशरीर का यह प्राण सम्बन्धी कार्य कठिन अथवा बन्द हो जाए तो मृत्यु की संभावना हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि शरीर में हृदयस्थ प्राण सर्वोपरि है और अत्यन्त महत्त्व रखता है। यह सूक्ष्म और कारण दोनों शरीरों का सर्वथा रक्षण और पोषण करता है। इसी के नेतृत्व में फुफ्फुस और हृदय ठीक-ठीक कार्य करते हैं। कारणशरीर और आत्मा की संयुक्त स्थिति का यही प्रधान साधन है। इसके अभाव में स्थूल शरीर का अस्तित्व नहीं रह सकता। इसके द्वारा ही योगीजन आत्मा तक पहुंचते हैं और इसके स्पर्श की प्रत्यक्ष रूप में अनुभूति करते हैं। क्योंकि हृदय में ही कारण शरीरगत आत्मा का निवास है। चित्तशायी आत्मा के सन्निधान में ही यह सर्वप्रधान अपना कार्य करता हुआ सूक्ष्म प्राण का भी प्रतिनिधित्व करता है। स्थूल प्राण भी यहीं अपने मूल केन्द्र से समस्त कार्य विस्तार करता है। इन तीनों प्राणों का प्रारम्भिक एवं प्रधान कार्यालय चित्त ही है और इनकी आद्योपान्त उत्पत्ति का स्थान भी हृदय ही है। अतः इस देहरूपी नगरी में हृदयस्थ प्राणों का सब से अधिक महत्त्व है। ये तीनों आत्मा के सन्निधान से चेतन से बने हुए हैं। यहीं से जीवनी शक्ति तीनों शरीरों में पहुंचती है। यूँ तो चेतन आत्मा का गमनागमन नहीं होता परन्तु जैसे अग्नि के जलते हुए अंगारों में लोहपिण्ड पड़कर स्वयं अंगारे के समान रूप और गुण ग्रहण कर लेता है उसी भांति आत्मा की सन्निकटता से प्राण भी चेतन सा बनकर कार्य समर्थता एवं क्षमता प्राप्त करके अपने दैवी कार्य में नियुक्त रहता है।

(१) **सूक्ष्म जगत् के अन्तर्गत सूक्ष्म शरीर में सत्त्वप्रधान प्राण का कार्य**—सत्व प्रधान अवस्था में सूक्ष्म प्राण एकाग्रता और समाधि की स्थिति उत्पन्न करता है और स्वयं सूक्ष्मगतिरूप हो जाता है। फलतः इन्द्रियगत भोगों का अभाव हो जाता है

और आत्मा के साथ सीधा सम्पर्क हो जाने से भीनी-भीनी आत्मानुभूति होती रहती है। जिस प्रकार स्थूल शरीर में निमग्न समाधि की अवस्था में सुसंयत प्राण आत्मा और ब्रह्म की अनुभूति कराता है उसी प्रकार सूक्ष्म जगत् में सूक्ष्म शरीर में स्वर्गलोक किंवा ब्रह्मलोक में तथा आहंकारिक सूक्ष्म जगत् में भी तद्वत् ज्योतिर्मय आत्मानुभूति अवश्य होनी ही चाहिए। अन्यथा कौन बुद्धिमान् साधक स्वर्गलोक या ब्रह्मलोक में गमन और वहां के दिव्य भोग या दिव्य सुख, शान्ति, और आनन्द की तपपूर्ण कामना करेगा। इन लोकों में दिव्य सुख, शान्ति और आनन्द प्राप्तव्य हैं तभी संसार के सब बुद्धिमान् तत्त्वज्ञानी तथा आत्मदर्शी उनकी निरन्तर कामना करते हैं। जीवनपर्यन्त प्रयत्नशील रह कर जप, तप, संयम, अभ्यास आदि अनेक प्रकार की साधना करते हुए योगसमाधि द्वारा उसका यहां भी रसास्वादन किया करते हैं। स्थूल देह परित्याग के उपरान्त दिव्यलोक में अवश्य जाते हैं। उनके दिव्यलोकगामी सूक्ष्म शरीर का वाहक सूक्ष्म प्राण अवश्य होता है। वहां भी निरोधावस्था में उनकी सात्विक अवस्था होती ही है क्योंकि उत्थान और निरोध की अवस्थाएं स्वर्गलोक में भी होती हैं। निरोध की अवस्था में समाधि होती है। उसमें सत्व-प्राण प्रधानरूप से विद्यमान् रहता है। इस स्थूल लोक में, सूक्ष्म जगत् या स्वर्गलोक और महत्तत्त्व के लोक में भी सत्व प्राण सदा तत्त्वज्ञान और समाधि का हेतु होता है। उपर्युक्त लोकों में भी दोनों प्रकार की समाधि की अवस्था आती है। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में केवल तत्त्व ज्ञान या पदार्थ मात्र का साक्षात्कार होता है। दूसरी असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में संस्कारों की निरुद्धावस्था में विशुद्धानन्द की अनुभूतिमय स्थिति रहती है। किसी भी प्रकार का भोग सम्पन्न नहीं होता।

शंका—यदि उन दिव्य लोकों में भी जाकर कुछ व्युत्थान और निरोध करना है तो यह सांप्रतिक लोक क्या बुरा है? ये सब बातें तो इस लोक में भी हो जाती हैं। अतः उन लोकों में जाने का क्या प्रयोजन रहेगा?

समाधान—इस संसार के शारीरिक भोगों का परिणाम दुःख ही है। यहां के ये सुख बड़े कष्टसाध्य होते हैं और भय, लज्जा, शंका से युक्त होते हैं। प्रतिपल मरण का भय बना रहता है। मनुष्य विविध कामनाओं की पूर्ति के लिए चिन्तित रहता है। लोकेषणा, वित्तेषणा, पुत्रेषणा, और न जाने कितनी एषणाएँ हैं जिनका कभी अन्त नहीं होता। आशारूपी तृष्णा का कभी अभाव नहीं होने पाता। मृत्यु के आवाहन पर अनेक संचित वासनाओं की गठरी साथ लेजाना पड़ती है और उनका भोगरूपी मूल्य देने के लिए फिर इस दुःखद संसार में आना पड़ता है। मानव सदा इसी चक्कर में फंसा

रहता है। संसार में दु:ख की कोई इति नहीं है। अनन्त दु:ख और पीड़ाएं अपना गढ़ जमाए बैठी हैं। मनुष्य जीवन भर चिन्ता की ज्वालाओं से घिरा और सँतप्त रहता है। आज तक मानव शरीर को पाकर कोई सुखी नहीं रहा। परिणाम, ताप और संस्कारों से उत्पन्न दु:खों के कारण, गुणों (सत्व, रजस्, तमस्)[1] और वृत्तियों (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति) में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी पुरुष को इस संसार की प्रत्येक वस्तु दु:खदायी ही प्रतीत होती है।[2] संसार में दु:खों की कोई सीमा देखने में नहीं आती। एक दु:ख अभी जाता नहीं कि दूसरा उपस्थित हो जाता है। इस संसार में उत्पन्न किसी भी व्यक्ति को कैसे सुख उपलब्ध हो सकता है?[3] इस संसार के भोगों में मानव किसी प्रकार का सुख प्राप्त नहीं कर सकता। एतदर्थ बार-बार प्रयत्न करता है किन्तु इच्छित सुख कभी प्राप्त नहीं होता और यदि प्राप्त हो भी जाता है तो उसकी रक्षा की चिन्ता बनी रहती है। एक कामना पूरी नहीं होने पाती दूसरी समुत्पन्न हो जाती है।[4] अतः इस दु:खमय लोक के साथ स्वर्ग की तुलना नहीं हो सकती क्योंकि वहां तो सब कुछ संकल्पमात्र से ही प्राप्तव्य है। उस लोक में पहुंच कर आत्मा विशुद्ध रूप हो जाता है। उस प्रशान्त दिव्यलोक में पहुंच कर जीवात्मा काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, रजोगुण की तीव्रता, जन्म-मृत्यु, कृपणता, शोक, तन्द्रा, क्षुधा, तृषा, तृष्णा, लज्जा, दु:ख, विषाद, आदि सब दु:खमूल व्यसनों से मुक्त हो जाता है। वहां वह कल्याणमय शिव हो जाता है अर्थात् युक्त हो जाता है।[5]

(२) सूक्ष्म शरीर में रजःप्रधान प्राण—सूक्ष्म जगत् के अन्तर्गत जागृत अवस्था में जब इन्द्रियों द्वारा दिव्य तन्मात्रारूप सूक्ष्म गन्ध रसादि का उपभोग होता है तब सूक्ष्म प्राण में रज की प्रधानता होती है। दिव्य लोक के आकाशमण्डल में सूक्ष्मशरीर का निवास रहता है। वह लघु और सूक्ष्म होने के नाते आकाश में विचरण करता है। आकाशमण्डल ही उसके लिए भूतल बन जाता है। स्थूल शरीर में गुरुत्व होता है इस लिए वह भूमि पर विचरने में समर्थ होता है। सूक्ष्म शरीर में गुरुत्व नहीं रहता।

---

(१) परिणामतापसंस्कारदु:खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च सर्वमेवदु:खं विवेकिनाम्। योगदर्शन २—१५

(२) प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः। योगदर्शन १—६

(३) संसार एवदुःखानां सीमान्त इति कथ्यते।
तन्मध्ये पतिते देहे सुखं मासाद्यते कथम्॥ महोपनिषद् अ० ६—मंत्र २६

(४) तमेव भुक्तिविरसंव्यापारौघं पुनः पुनः।
दिवसेदिवसेकुर्वन् प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते॥ महोप० अ० ६ श्लोक ७६

(५) कामःक्रोधोभयं चापि लोभमोहं मदो रजः। जन्म मृत्यश्च कार्पण्यं शोकः तन्द्रः क्षुधा तृषा॥
तृष्णं लज्जा भयं दु:खं विषादोहर्ष एव च। एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः शिव उच्यते॥
योगशिखोपनिषद् उपनिषद् १ श्लोक ६, १०

अतः वह आकाश में सुविधापूर्वक विचरण करता है। सूक्ष्म शरीर वायु के समान ही आकाश में गमनागमन करता है। वह वाष्प के समान बहुत हल्का होता है इसलिए नीचे नहीं गिरता। सूक्ष्म शरीर वायु अथवा अग्नि की अपेक्षा सूक्ष्मतर होता है और गुरुत्वरहित होता है इसलिए आकाशगमन में उसे कोई कठिनाई अनुभव नहीं होती। अतः सूक्ष्म शरीरों का आवास तथा गमनागमन नभमण्डल में ही रहता है। अभी कुछ वर्ष पूर्व अमेरिका के कतिपय अन्तरिक्षगामी वैज्ञानिक राकेट में बैठकर चन्द्रलोक गए थे। अन्तरिक्ष में शरीरों का गुरुत्व समाप्त हो जाने के कारण चन्द्रलोक की भूमि पर वे उछलते कूदते और उड़ते हुए से चलते थे। चन्द्रलोक यद्यपि स्थूल है, उसमें भूमि भी है और स्थूल शरीर भी वहीं थे जो उस चन्द्रलोक की भूमि पर चल रहे थे परन्तु पृथ्वी से दूर चन्द्रलोक में पहुंचकर इनका गुरुत्व हल्का हो चुका था क्योंकि चन्द्रलोक की भूमि में पृथ्वी लोक की भूमि की अपेक्षा आकर्षण शक्ति कम है। शरीर अथवा अन्य कोई पदार्थ जब इस भूमि के वायुमण्डल की परिधि से बाहर निकल जाता है तब वह हल्का हो जाता है क्योंकि वह इस भूमि और जल के अंशों से बना होता है और उसमें जल का भार अधिक होता है परन्तु चन्द्रलोक में जल का सर्वथा अभाव है। वहां की भूमि में अग्नि तत्व प्रधान है जब कि यहां की भूमि में जल तत्त्व प्रधान है इसलिए जलतत्त्व में आकर्षण क्रिया हमारी पृथ्वी पर अधिक होती है। जल का गुरुत्व शरीर को अपनी ओर आकृष्ट किए रहता है इसलिए हमारा शरीर भूमि पर चलने में समर्थ होता है। चन्द्रलोक में अग्नितत्त्व प्रधान है। अग्नि आकाश मण्डल में रहने वाला पदार्थ है। हल्की होने के कारण अग्नि जलतत्त्व को आकाश की ओर आकृष्ट करती है अतः मानव शरीर चन्द्रलोक में पहुंचकर हल्का हो जाता है। चन्द्रमा हमारी भूमि की अपेक्षा सूर्य के अधिक समीप है इसलिए वहां का तापमान अधिक है। सूर्य की गर्मी के कारण वहां जल तत्त्व स्थायीरूपेण नहीं रह सकता। हमारी भूमि से सूर्य दूर है। अतः सूर्य की उष्णता यहां पर कम पहुंचती है इसलिए इस भूमि पर जल की मात्रा बहुत है क्योंकि जल को शोषण करने वाली सूर्य की गर्मी यहां कम पहुंचती है। हमारी भूमि की तुलना में चन्द्रमा का तापमान लगभग २५० गुणा अधिक है। इसी कारण वहां स्थायीरूप से जल नहीं रह सकता। जल के अभाव में वहां वनस्पति, औषधि, अन्न वृक्षादि भी नहीं होते और इनके अभाव में वहां प्राणदा वायु का भी अभाव रहता है। ऑक्सीजन के अभाव में वहां मनुष्य जीवन ही संभव नहीं है क्योंकि जीवन का मुख्य आधार वनस्पति, अन्न वा जल ही वहां नहीं है। अतः यह मानना पड़ेगा कि हमारी पृथ्वी ही स्वर्गलोक है जिसमें मानव को उपयुक्त भोग्य पदार्थ उपलब्ध हैं। सर्वव्यापकत्वेन परमात्मा यहां भी व्यापक है। जब यहां सर्वसुख-साधन उपलब्ध हैं तब दूसरे लोकों में जाने की क्या आवश्यकता है?

स्वर्गलोक चन्द्रलोक से भी बहुत दूर है। वहां पर सूक्ष्म शरीर आकाशमण्डल या पंचतन्मात्राओं के लोक में रहते हैं क्योंकि सूक्ष्म शरीर में स्थूल पदार्थों में प्रवेश करने की वा बाहिर निकलने की और आने जाने की क्षमता होती है। स्पर्श तन्मात्रा से उत्पन्न हुआ सूक्ष्म प्राण ही उसे ऊपर उठाए रखता है। तद्गत् सूक्ष्म प्राण रजःप्रधान होता है। उसी के द्वारा इन्द्रियां भोगों को ग्रहण करती हैं। सत्वप्रधान समाधि की अवस्था में तथा तमःप्रधान निद्रा की अवस्था में इन्द्रियों के भोग नहीं होते। जागृत और व्युत्थान काल में ही रजःप्रधान प्राण के द्वारा इन्द्रियों के भोग भोगे जाते हैं। मन को एकाग्र करके जब रजोगुण की प्रधानता हो तब इस प्राण के सर्व धर्म, कर्म, व्यापार और स्वरूप का साक्षात् करना चाहिए। यही स्थिति इसके ज्ञान के लिए उपयोगी होती है।

(३) सूक्ष्म शरीर में तमःप्रधान सूक्ष्म प्राण—शरीर और इन्द्रियों के भोगों के लिए जागृत, निद्रा तथा स्वप्नावस्था का होना आवश्यक है। निद्रावस्था में तमःप्रधान प्राण ही कार्य करता है। इहलौकिक स्थूल शरीर में गुणों के भेद से निद्रा भी सात्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद से तीन प्रकार की होती है। सात्विक निद्रा के पश्चात् शरीर हल्का और स्वस्थ हो जाता है, तथा मन और बुद्धि प्रसन्नता लाभ करते हैं, आलस्य समाप्त होकर शरीर में स्फूर्ति आ जाती है। गाढ़ निद्रा के पश्चात् मानव सुख अनुभव करता है। आनन्दानुभूति प्राप्त होती है। रजःप्रधान निद्रा के अन्तर्गत बुद्धि में कुछ अशान्ति तथा खिन्नता सी प्रतीत होती है और असम्वद्ध स्वप्न अपना डेरा डाले रखते हैं। दुःस्वप्नों के कारण मन की विकलता बढ़ जाती है। हृदय में आलस्य और प्रमाद छा जाता है। तमःप्रधान निद्रा में कुछ बोध नहीं रहता। निद्रा से उठने के पश्चात् शरीर में भारीपन और जड़ता सी प्रतीत होती है। तन्द्रा का पूर्ण प्रभाव होता है। काम करने की इच्छा नहीं होती अपितु और अधिक सोने की इच्छा बनी रहती है। मस्तिष्क व सारा शरीर भारी प्रतीत होता है। जड़ता और मूढ़ता सी बनी रहती है। सूक्ष्म शरीर में भी सात्विक, राजस् और तामसिक भेद से निद्रा भी तीन प्रकार की है। सूक्ष्म प्राण भी सात्विक, राजस् और तामसिक भेद से तीन प्रकार का होता है। जब शरीर और यह जीवन ही त्रिगुणात्मक है तो उसमें निद्रा भी त्रिगुणात्मक ही प्रायः होगी और प्राण की अवस्था भी त्रिगुणात्मक ही रहनी चाहिए। निद्रा की अवस्था में तमस् की प्रधानता विशेष रूप से होती है। तमःप्रधान प्राण भी तामस् भोग प्रदान करेगा और उसकी गति भी उसी प्रकार की होगी। निद्रा की अवस्था में आकाश में उसके गमनागमन का अभाव हो जाएगा। सामान्यतया हृदयादि में प्राण की गति धड़कन, फड़कन आदि के रूप में बनी रहती है। श्वास-प्रश्वास का साधारण

कार्य चलता रहता है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर को पूर्ण विश्राम मिलता है और वह स्थिर होकर आकाश में ठहर जाता है। जब योगी ध्यान के पश्चात् आकाशमण्डल में सूक्ष्म शरीर को समाधि का विषय बनाता है तब बहुत से सूक्ष्म शरीर स्तब्ध हुए—रुके हुए, एक स्थान पर स्थित से देखने में आते हैं। कभी-कभी घूमते हुए, चलते हुए और चमकते हुए भी दिखाई देते हैं। अतः सूक्ष्म जगत् में सूक्ष्म शरीरों की सृष्टि माननी ही उचित है।

सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म 'समान' नामक प्राण का कार्य—सूक्ष्म शरीर में समान प्राण भी सात्विक, राजस् और तामस् भेद से तीन प्रकार का होता है। इसका निवास हृदय से नाभि तक रहता है। स्थूल शरीर के समान ही सूक्ष्म शरीर भी भोगायतन ही होता है। अतः सूक्ष्म शरीर में भी यकृत, आमाशय, पक्वाशय, प्लीहा, छोटी आँत, बड़ी आँत आदि अययव होते हैं अन्यथा रस तन्मात्राओं का पाकादि कार्य नहीं हो सकेगा। इसलिए सूक्ष्म भूतों से बनी हुई सूक्ष्म ग्रंथियां भी सूक्ष्म शरीर में माननी पड़ेंगी। इसके बिना जीवन का विकास और शरीर का पोषण नहीं हो सकेगा। हृदय और मस्तिष्क का पोषण भी इन्हीं के द्वारा होता है। जिस भांति स्थूल शरीर में समान प्राण कार्य करता है वैसे ही सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म समान प्राण कार्यरत रहता है। सर्वथा उसके जीवन का आधार बना हुआ है। सूक्ष्म समान के बिना सूक्ष्म शरीर का रहना असंभव है।

(१) सूक्ष्म शरीर में सत्त्व प्रधान 'समान'—जागृत अवस्था में समाधि के समय जब मन और बुद्धि का सम्बन्ध आत्मा वा परमात्मा के साथ होता है तब सात्विक समान अपना कार्य करता है। उस समय इसमें क्षोभ और उत्तेजना नहीं होती। समान भाव से गंध तन्मात्रा तथा रस तन्मात्रा में जो जीवनरूपी सारभूत रस होता है उसको हृदय द्वारा शरीर में पहुंचाता रहता है। समान प्राण का जो कार्य स्थूल शरीर में होता है वही सूक्ष्म शरीर में भी होता है। सूक्ष्म शरीर में स्थूल शरीर के समान ही सब कार्य होते हैं किन्तु सूक्ष्म लोक में सूक्ष्म शरीर के कार्य स्वयं उसके संकल्प मात्र से होते हैं वहां उसे भोगार्थ स्थूल शरीर की अपेक्षा नहीं रहती। सूक्ष्म शरीर में निर्विकल्प जैसी अवस्था रहती है और सत्त्व प्राण सात्विकरूप से शरीर के प्रति अपना कार्य करता रहता है। इहलोकस्थ सूक्ष्म शरीर में एवं परलोकगत सूक्ष्म शरीरों में सत्व प्रधान प्राण का कार्य सूक्ष्मरूपेण होता रहता है।

(२) सूक्ष्म शरीरगत रजःप्रधान 'समान' का कार्य—जागृत अवस्था में इन्द्रियों को भोग प्रदान करना इसका प्रधान कार्य है। शरीर और इन्द्रियों में क्षोभ होने पर समान

प्राण भी क्षुब्ध होकर विकार का हेतु बन जाया करता है। तब ग्रंथियों में रस निर्माण के कार्य विकृत रूप में होने लगते हैं। काम, क्रोध, रागद्वेष, भयादि वासनात्मक वृत्तियों से जब इन्द्रियों, मन और बुद्धि में क्षोभ उत्पन्न होते हैं तब यह भी कुपित होकर उद्‌दण्डता पूर्ण विकृताकार हो जाता है और सूक्ष्म शरीर पर इसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। प्रश्न हो सकता है कि जब स्थूल शरीर के समान सूक्ष्म शरीर पर भी राग द्वेषादि के बुरे प्रभाव पड़ते हैं तब स्थूल और सूक्ष्म शरीर में अन्तर ही क्या हुआ। अन्तर यह होता है कि जब तक जीवन काल में सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर में रहता है तब तक स्थूल शरीर का भी प्रभाव इस पर पड़ता है। परन्तु जब यह उसे छोड़कर उससे अलग हो जाता है और आकाशमण्डल में स्वेच्छाचारी होकर विचरने लगता है तब स्थूल शरीर के दूषित प्रभावों से युक्त नहीं होता। केवल तन्मात्राओं के सामान्य भोग अवशिष्ट रह जाते हैं किन्तु वे क्लेश के हेतु नहीं होते। अनादिकाल के सूक्ष्म क्लेश तनु होकर चित्त के प्रदेश में प्रसुप्त से पड़े रहते हैं। उनको वहां भोग देने का अवसर प्राप्त नहीं होता। क्योंकि इस प्रकार की भोगोत्तेजक सामग्री सूक्ष्म जगत् में नहीं होती। न कोई इस लोक जैसा धर्माधर्म या पुण्यापुण्य का वहां बंधन होता है। वेदान्त दर्शनगत एक सूत्रानुसार 'यथाभोग मात्र साम्यलिङ्गाच्च वेदान्तदर्शन ४-४-२१ वहां केवलमोत्र भोग ही होता है। भोग की प्रधानता होती है। इस लोक के समान कर्म की प्रधानता नहीं होती।

पर भोग तो पशु पक्षियों में भी होते हैं। पापपुण्य और धर्माधर्म की मानवेतर जीवधारियों में भी कोई परम्परा या व्यवस्था नहीं होती। तब वहां के देवताओं तथा यहां के पशुओं में क्या भेद और विशेषता रही ?

इस लोक के पशु-पक्षियों के भोगों और देवलोक के देवताओं या सूक्ष्म जगत् की स्वर्गीय दिव्यात्माओं के भोगों में आकाश पाताल का अन्तर होता है। यहां पक्षु-पक्षी सम्भोग द्वारा सन्तति बढ़ाते हैं फिर उनका पालन-पोषण भी लगभग मनुष्यों के समान ही करते हैं। आपस में क्रुद्ध होकर एक दूसरे से लड़ाई तथा आक्रमणादि द्वारा मरते मारते हैं। दूसरे पशुओं से या मनुष्यों से भयभीत बने रहते हैं। अतः इन पशु-पक्षियों के कर्म बहुत कुछ मनुष्यों से मिलते-जुलते हैं। इसके विरुद्ध स्वर्गलोक के सूक्ष्माभिमानी देवताओं में इस प्रकार के कार्य नहीं होते। फलतः उनकी तुलना इन पशु-पक्षियों के साथ नहीं की जा सकती। भूतल के पशु-पक्षी सब नारकिक दुःख भोगते हैं परन्तु उस दिव्यलोक में यह सब दुःखमय जीवन नहीं होता। जब सब प्रकार के संकल्प-विकल्प शान्त हो जाते हैं और समस्त ऐषणाएं—पुत्रेषणा, वित्तेषणा तथा लोकेषणा इत्यादि समाप्त हो

जाती हैं तब ही मानव निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त होकर पूर्णतया स्वस्थ होता है तब ही उसके सर्व क्लेशात्मक दुःखों की निवृत्ति हो पाती है।[1]

(३) सूक्ष्म शरीर में तमःप्रधान सूक्ष्म 'समान' प्राण का व्यापार—निद्रावस्था में तमः प्रधान समान की प्रधानता होती है। सूक्ष्म लोक में भी जागृति के साथ-साथ निद्रा अवश्य अपना स्थान रखती है। आकाशमण्डल में विचरते हुए कुछ न कुछ थकावट तो होती ही होगी, विश्राम के लिए निद्रा ही एक ऐसी अवस्था है जिससे जीवधारी जागृत होकर पुनः स्वस्थ हो जाता है। अतः निद्रा की आवश्यकता है और यह स्वाभाविक धर्म है। आकाश के एक देश में स्थित होकर सूक्ष्म शरीर विश्राम लाभ करता है और निद्रा की सी अवस्था आजाती है। जागृति में गमनागमन व्यापार से श्रान्त होना स्वाभाविक है और उसकी विश्रान्ति के लिए निद्रा भी स्वाभाविक है। समाधि द्वारा भी निद्रा की पूर्ति हो जाती है और विश्राम मिलता है। किन्तु समाधि स्वाभाविक धर्म न होकर संकल्पात्मक है। समाधि लगती नहीं लगाई जाती है। अनेक साधनों द्वारा प्राप्त की जाती है और यह बहुत महीनों अथवा वर्षों में जाकर सिद्ध होती है परन्तु निद्रा के लिए किसी साधन, प्रयत्न अथवा अभ्यास की आवश्यकता नहीं। यह अपने आप ही किसी प्रकार के प्रयत्न के बिना आ जाती है क्योंकि यह स्वाभाविक वृत्ति है। इसमें तमः प्रधान समान एक रस रह कर कार्य करता है। समान का कार्य रसों का निर्माण तथा पाकादि कार्य प्रत्येक अवस्था में जागृति, स्वप्न, और सुषुप्ति तथा समाधि में बराबर होता रहता है।

सूक्ष्म शरीर में अपान प्राण का कार्य—अपान प्राण का कार्यक्षेत्र नाभि से आपादतल तक है। अपान के प्रदेश में दो इन्द्रियां अर्थात् उपस्थ और गुदा कार्य करती हैं। इनके बिना शारीरिक स्वस्थ और नीरोग जीवन असंभव है। मूत्र त्याग तथा मल विसर्जन इनका धर्म है। ये दोनों इन्द्रियां कुछ गुरुत्वधर्म वाली हैं। अतः अपान ही मल-मूत्र विसर्जन का हेतु होता है। जिस प्रकार स्थूल शरीर में मूलाधार स्थान में कुण्डलिनी शक्ति होती है उस प्रकार सूक्ष्म शरीर में नहीं होती। स्थूल शरीर में कुण्डलिनी शक्ति के जागरण द्वारा विज्ञान प्राप्त किया जा सकता है किन्तु सूक्ष्म जगत् में तो किसी विशेष ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। योगी स्थूल शरीर में कुण्डलिनी जागरण के द्वारा चक्रविज्ञान और प्राणविज्ञानादि प्राप्त करता

---

(१) सशान्त सर्वसंकल्पः प्रशान्त सकलैषणः निर्विकल्पपदं गत्वा स्वस्थो भव मुनीश्वरः।
महोपनिषद् अ० ६ श्लोक ८२

है। सूक्ष्म जगत् में तो ज्ञान प्राप्त करने की कोई विधि नहीं है। वहां तो केवल सुखमात्र की ही प्रधानता है। अतः ज्ञान प्राप्ति का कोई क्षेत्र वहां नहीं है। सूक्ष्म जगत् में कुण्डलिनी उत्थान, चक्र विज्ञान, प्राणोत्थान आदि के न तो साधन हैं और न आवश्यकता ही है। स्थूल शरीर ही इनके साधन का माध्यम होता है। सूक्ष्म शरीर में भोगसाधन के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता है क्योंकि इनके बिना भोगों की सिद्धि नहीं होती। स्वर्गलोक में केवल भोगमात्र ही होता है पर इस लोक में ज्ञान, कर्म और भोग तीनों की प्रधानता है। स्वर्ग में सर्वभोग संकल्पमात्र से प्राप्त होते हैं पर मानवीय संसार में प्रयत्न तथा पुरुषार्थ साध्य हैं। कुछ संप्रदायवादियों ने स्वर्ग में अप्सराओं, हूरों देवाङ्गनाओं का उपभोग माना है। उनका स्वर्ग इस लोक की मान्यताओं पर ही आश्रित है, जहां राकेट आदि द्वारा स्थूल शरीर सहित पहुंचने की सुविधा उपलब्ध होने की सम्भावना हो सकती है। किन्तु हम तो मृत्यु के पश्चात् स्थूल शरीर का गमन स्वर्गलोक में नहीं मानते। सूक्ष्म शरीर ही स्वर्ग में जाता है स्थूल शरीर नहीं। वहां पर सूक्ष्म शरीर के भोग भी सूक्ष्म रीति से ही सुगम होने चाहिएं जिसकी विधिवत् प्रक्रिया पूर्वदर्शाई जा चुकी है। अन्य मतों के अनुसार हम भी स्वर्ग में भोग की प्रधानता तो मानते हैं परन्तु कोई ज्ञानादि अथवा उसके परिष्करणयोग्य कोई विशष क्षेत्र नहीं होता। किसी प्रकार के जप, तप या विशेष साधना की पृष्ठभूमि भी वहां नहीं मिलती। केवल इन्द्रियजन्य सुखों का उपभोग ही प्रधान रूप से उपलब्ध होता है। उपभोग काल में अपान अपना विशेष महत्त्व रखता है।

(१) सूक्ष्म शरीर में सत्त्वप्रधान अपान का कार्य—जब सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध परमात्मा से होता है तब अपान सत्त्वप्रधान होता है। परमात्मा की निर्विकारिता के कारण उस काल में मन और बुद्धि शान्त ही होते हैं। जैसे प्रगाढ़ निद्रा में शरीरगत अपान की सामान्य क्रिया होती रहती है उसी प्रकार दिव्य स्थिति में भी बनी रहती है। केवल इतना अन्तर रहता है कि सूक्ष्म शरीर की इस दिव्यगति में अपान सत्त्वप्रधान होता है परन्तु निद्रा में तमःप्रधान होने से उपस्थ और गुदा के कार्य भी होते रहते हैं।

(२) सूक्ष्म शरीर में रजःप्रधान अपान का व्यापार—सूक्ष्म इन्द्रियों का अपने विषयों से संपर्क होने पर रजःप्रधान अपान की चंचलता और गतिविधि अधिक बढ़ जाती है। यह अपान कम्पायमान होकर कार्य अधिक करने लगता है। उस समय विपरीत कार्यों का आधिक्य रहता है। उसके कुपित होने पर उपस्थ और गुदा भी विकृत हो जाते हैं। भूतल पर शरीर के भोगकाल में सूक्ष्म शरीर पर भी असत्प्रभाव पड़ता है। परन्तु सूक्ष्म जगत् में बहुत कुछ भिन्न क्रियाएं होती हैं और वहां के भोगों में भी अन्तर होता है।

(३) सूक्ष्म शरीर में तमःप्रधान अपान का कार्य—सामान्यतया निद्रा के समय तमःप्रधान अपान का व्यापार होता है। उस काल में विशेष क्षोभ नहीं होता। इस संसार में विपरीत प्रभाव पड़ने पर शरीर के कार्य भी अस्तव्यस्त हो जाते हैं परन्तु सूक्ष्म जगत में ऐसा नहीं होता क्योंकि वहां कोई दुःखात्मक भोग नहीं होता। सूक्ष्म शरीर में भी ५ प्रकार के उपप्राण काम करते हैं। इनके व्यापार भी सूक्ष्म शरीर में उसी प्रकार के होते हैं जैसे स्थूल शरीर में होते हैं। धनंजय का कार्य शरीर को फुलाना है, नाग का उद्‌गार लाना तथा हिचकी लाना है। कूर्म का निमेषोन्मेष, कृकल का क्षुधा पिपासा और देवदत्त का छींक लाना है। उपप्राणों के कार्य जिस प्रकार स्थूल शरीर में होते हैं उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में भी होते हैं।

सत्त्व प्रधान उपप्राण धनंजय—धनंजय उपप्राण आकाशवत् समस्त शरीर में व्याप्त रहता है। इसका सम्बन्ध स्पर्शेन्द्रिय से होता है।

रजःप्रधान धनञ्जय—इन्द्रियों के भोगकाल में आघात होने पर रजःप्रधान धनंजय उन पर अपना प्रभाव डालता है और शोथउत्पादक होता है।

तमःप्रधान धनंजय—तमःप्रधान धनंजय शोथकाल में जड़ता, गुरुता, भारीपन शरीर में लाता है।

नाग प्राण— इसका निवास मुख में है। उद्‌गार और हिचकी उत्पन्न करता है।

सत्त्वप्रधान नाग का कार्य समाधि अवस्था में बन्द रहता है।

रजःप्रधान नाग—रजःप्रधान नाग उपप्राण उद्‌गार लाता है और हिचकी भी। इसकी उत्पत्ति वायु के कुपित होने पर होती है और यही कुपित वायु को उदर से बाहर निकालता है।

तमःप्रधान नाग— तमःप्रधान नाग निद्रावस्था में शान्तभाव से रहता है।

कूर्म उपप्राण— कूर्म उपप्राण जागृतावस्था में निमेषोन्मेष का कार्य करता है। किम्वन्दन्ती है कि देवताओं के शरीर में निमेषोन्मेष कर्म नहीं होता। उनके पलक सदा खुले रहते हैं। ध्यान समाधि में जिन दिव्यात्माओं, अवतार पुरुषों, देवताओं के दर्शन होते हैं उनकी भी पलकें झपकती नहीं दिखाई देतीं। सदैव खुली आँखों से ही उनके दर्शन हुआ करते हैं परन्तु जब प्राण और इन्द्रियां उनमें वर्तमान हैं तो उनके कर्म और व्यापार भी सदा होने ही चाहिएं। योगी जब अपनी स्थूल आँखों से कभी-कभी घण्टों

तक बाह्य त्राटक किया करते हैं तब उनकी पलकें खुली रहती हैं। संभव है देवगण भी त्राटक करते हुए ही दिखाई देते हों। हम स्वयं कुछ वर्ष पूर्व अभ्यासियों को प्रतिदिन तीन घण्टे लगातार योगाभ्यास करवाया करते थे। उन दिनों तीन घण्टे तक आँखें खुली रखकर ही साधना कराया करते थे। दीर्घकाल तक खुली रहने के पश्चात् आँखों को बन्द करते समय कुछ पीड़ा सी अनुभव होती थी। साधारणतया जागृत अवस्था में आँखों का झपकना उनका स्वाभाविक धर्म है। कुछ व्यक्ति निद्रा में भी खुली आँखों से सोते देखे जाते हैं परन्तु नैसर्गिक निमेषोन्मेष को रोकना हानिकारक ही सिद्ध होता है। अन्त में इसका परिणाम अच्छा नहीं होता। आँखों का चिरकाल तक खुले रहना पुतलियों की तरलता को सुखा देता है। आँखों की झपकन बीच के गोलकों तथा कोयों को तरल रखने में सहायक होती है। घण्टों तक आँखों को खुली रखने से इनका पानी सूख जाता है और कभी-कभी जम भी जाता है। यही शनैः-शनैः मोतिया बिन्द बन जाता है। अतः अधिक त्राटक करना हानिकारक सिद्ध होता है। कभी-कभी शनैः-शनैः नेत्रज्योति भी कम होने लगती है। मोमबत्ती, दीपक तथा बल्ब को सामने रख कर त्राटक करने से भी नेत्र कमजोर हो जाते हैं। बीस या तीस मिनिट से अधिक त्राटक करना नेत्रों के लिए हितकर नहीं है।

सत्त्वप्रधान कूर्म उपप्राण—जागृत अवस्था में ध्यान व समाधि की स्थिति में कूर्म प्रशान्तभाव में रहता है और उसके द्वारा कोई कार्य या व्यापार नहीं होता। त्राटककाल में भी इसका व्यापार बन्द हो जाता है।

रजःप्रधान कूर्म उपप्राण—जागृतावस्था में इन्द्रियों के भोगों के समय इसमें रजोगुण की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। निमेषोन्मेष का कार्य अधिक होने लगता है। इसमें यह कर्म स्वाभाविक ही हैं। यह आँखों की रक्षा करता है।

तमःप्रधान कूर्म उपप्राण—तमःप्रधान कूर्म का व्यापार निद्राकाल में स्थगित रहता है। इसकी वास्तविक अवस्था यही है।

सूक्ष्म शरीर में कृकल उपप्राण का कार्य—इस उपप्राण का निवासस्थल तथा कार्यक्षेत्र प्रधानतया मुख है। इसका कार्य जम्भाई लाना है। यह क्षुधा और पिपासा भी उत्पन्न करता है और श्वास-प्रश्वास में सहायक होता है।

सूक्ष्म शरीर में सत्त्वप्रधान कृकल—बुद्धि और चित्त की सात्विक अवस्था में समाधि के अन्तर्गत इसका व्यापार नहीं होता। भूख और प्यास भी नहीं लगती।

रजःप्रधान कृकल उपप्राण—रजःप्रधान कृकल सूक्ष्म शरीर में जम्भाई, क्षुधा और पिपासा का उत्पादक है।

तमःप्रधान कृकल उपप्राण—तमःप्रधान अवस्था में कृकल का कोई व्यापार नहीं होता। एक समान सी स्थिति बनी रहती है।

देवदत्त उपप्राण—छींक लाने का कार्य करता है। नासिका द्वारा श्वास-प्रश्वास का वाहक होता है।

सत्त्वप्रधान देवदत्त—यह शान्तभाव में रह कर श्वास-प्रश्वास के कार्य में सहायक बना रहता है।

रजःप्रधान देवदत्त—इसके रजःप्रधान होने पर छींक आती है। विशेष रूप से इसका व्यापार नासिका में होता है। तीक्ष्ण गंधों का इस पर उत्तेजक प्रभाव पड़ता है और तब यह कुपित होकर छींक लाता है। इसकी तीक्ष्णता में वृद्धि हो जाती है और नासिका में वेदनापूर्ण रौरवाहट सी होने लगती है।

तमःप्रधान देवदत्त—यह निद्रावस्था में शान्त स्थिति बनाए रखता है। स्थूल शरीर के समान सूक्ष्म शरीर में और सूक्ष्म प्राण में भी यही स्थिति हो जाती है। इन्द्रियों के भोग व कर्म और प्राणों के सब व्यापार सूक्ष्म शरीर में भी होते रहते हैं। इसी कारण सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत भी सूक्ष्म प्राण का सात्विक, राजस् और तामस् भेद किया गया है। स्थूल शरीर सम्बन्धी भोगकाल में सूक्ष्म शरीर के प्राण पर भी प्रभाव पड़ता है। यद्यपि सूक्ष्म जगत् में विचरने वाले सूक्ष्म शरीर पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता। वहाँ पर यहाँ के समान वेदना भी नहीं होती क्योंकि सूक्ष्मःजगत् अथवा स्वर्ग लोक में तो सुख की ही विशेषता है। वहाँ केवल संकल्पमात्र से सूक्ष्म इन्द्रियों को सब भोग अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। वहाँ स्थूल शरीर और तत्सम्बन्धी भोगों का कोई प्रभाव या अवसर नहीं होता। यही सूक्ष्म जगत् और सूक्ष्म शरीर की विशेषता है। स्थूल शरीरस्थ जो सूक्ष्म शरीर है उसके भोग और कार्य तो समाधि की अवस्था में प्रत्यक्ष होते हैं। समाहित चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति में सूक्ष्म जगत् और सूक्ष्म शरीर को सुसंयत दिव्यदृष्टि से देखा जा सकता है। उसकी प्रत्यक्षता केवल अनुमान की ही बात नहीं है। उसे तत्त्वज्ञानी योगी प्रत्यक्षरूपेण देखने में समर्थ होते हैं। संसारी लोग स्वप्न में भी उसकी कल्पना नहीं कर सकते। योगीजन इसी स्थूल शरीर में समाधिस्थ होकर दिव्यदृष्टि द्वारा सूक्ष्म जगत् तथा कारण जगत् का प्रत्यक्ष करते हैं और जो प्रत्यक्ष करते हैं उसका वर्णन भी करते हैं। योगियों के अनुभव प्रामाणिक होते हैं क्योंकि उन्होंने उस विज्ञान का समाधि में साक्षात्कार किया हुआ होता है। यदि आप भी अपनी श्रद्धा, भक्ति और निष्ठापूर्वक पवित्र भावना से श्रवण, मनन

और निदिध्यासन करते चले जाओगे तो आपको भी उनके समान अनुभूतियाँ प्राप्त होंगी। उत्कृष्ट ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए जिज्ञासु साधक जब योगाभ्यास करता हुआ समाधि में ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा उसका साक्षात्कार करता है तब उसके हृदय के कपाट खुल जाते हैं और सब वासनाएं और कामनाएं समाप्त हो जाती हैं।[1] सब सन्देह निर्मूल हो जाते हैं। शुभाशुभ तीनों प्रकार के कर्म क्षीण हो जाते हैं और उसके सब संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। उसके सर्वकर्म-बंधन टूट जाते हैं। दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक तन्मयता के साथ श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते रहने से हृदय की सर्व ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और अविद्यान्धकार नष्ट होकर दिव्यलोक की प्राप्ति होती है। सर्व प्रकार के विकल्प, संशय, तर्क-वितर्कादि को निवृत्ति हो जाती है।[2] आत्मा और परमात्मा का आनन्दमय साक्षात्कार हो जाता है। उस लोक में भी सूक्ष्म प्राण आपका सर्वत्र सहायक और तत्त्वज्ञान का हेतु होता है। सर्व भोग और अपवर्ग की प्राप्ति प्राण द्वारा ही होती है।

इति ब्रह्मनिष्ठराजयोगाचार्योपाधिधारिणा श्री योगेश्वरानन्द सरस्वतिस्वामिना प्रणीते प्राणविज्ञानाख्य ग्रन्थेऽस्मिन् प्राणस्वरूप वर्णनात्मको तृतीयोऽध्यायः समाप्तः।

(१) स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसंस्कारासेवितो दृढ़भूमिः—योगदर्शन, समाधिपाद, सूत्र १४

(२) भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ मुण्डकोपनिषद् २–२–८

चित्र संख्या १ का विवरण

स्थूलभूतों की सृष्टि में प्राण का स्वरूप और स्थूलशरीर में उसकी उत्पत्ति

इस चित्र में पाँच प्रकार के प्राणों के विभिन्न रंग और शरीर में उनकी गति दिखाई गई है। मूलाधार में मिट्टी का रंग अपान का, नाभि में नीला रंग समान प्राण का और हृदय में लाल रंग प्राण का दिखाया है उसमें अग्नि की प्रधानता के कारण। कण्ठ में कुछ हरे रंग का उदान और उसकी गति दिखाई गई है। व्यान प्राण का सर्व शरीर में गमन किंचित नीली धारियों में दिखाया गया है।

साथ में जो चार्ट दिया है उसमें पाँचों प्राणों के सात्विक, राजस्, तामस् भेदों में १५ प्रकार के प्राणों के रंग दिखाये गये हैं। यह स्थूल शरीरगत १५ प्रकार के प्राणों का चित्रण है।

1
2
3
4
5
5
4
3
5
5
2
1
5
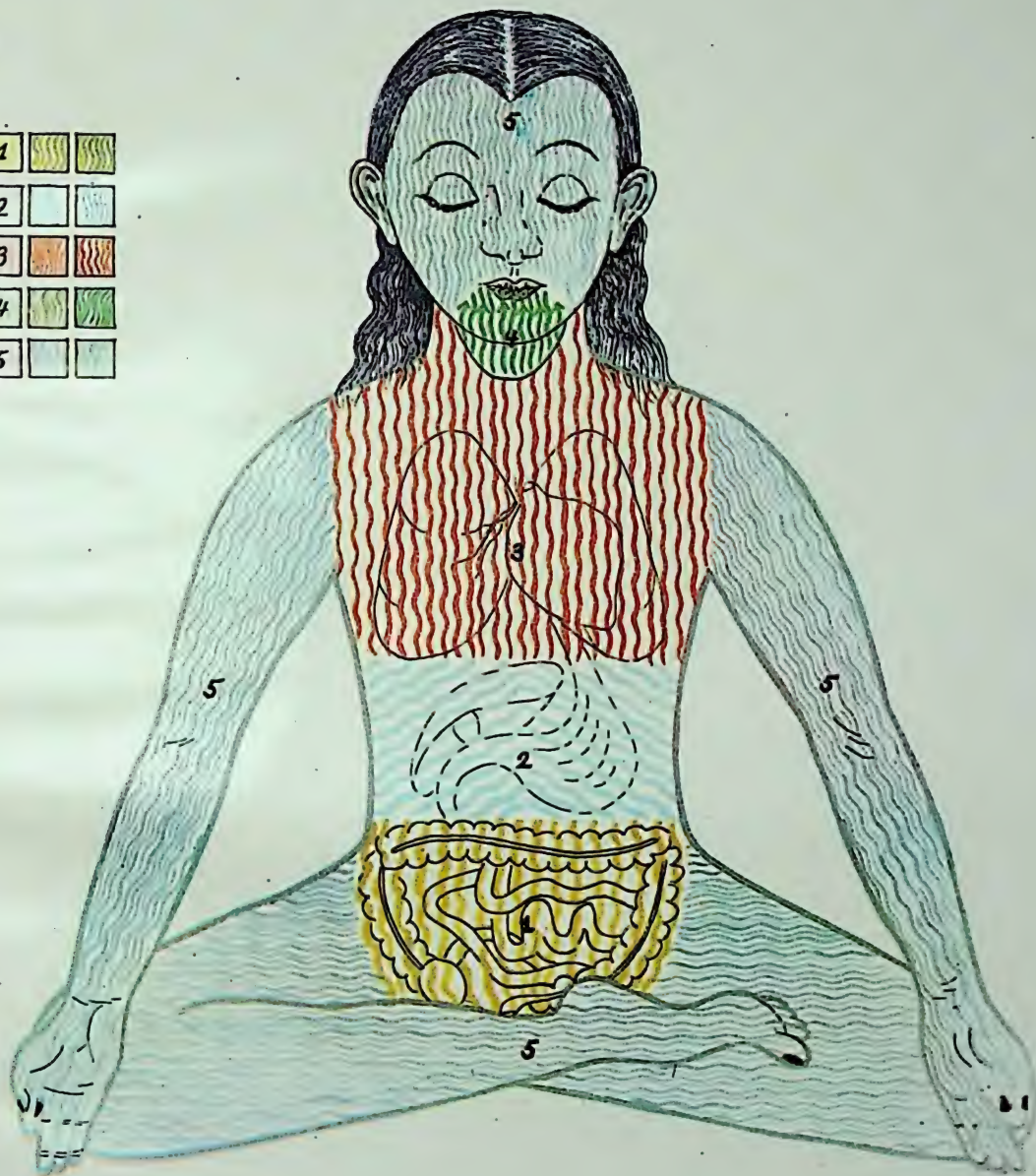
चतुर्थोऽध्यायः

स्थूल भूतों की सृष्टि में प्राण का स्वरूप और उसकी उत्पत्ति

पञ्चस्थूलभूत, पाँच सूक्ष्म भूतों या पंचतन्मात्राओं का परिणाम हैं। ये उनके ही रूप हैं। पंचतन्मात्राएं संघात भाव को प्राप्त होकर पृथ्वी के रूप में प्रादुर्भूत हुई हैं। पृथ्वी से अभिप्राय विश्व के लोक-लोकान्तरों, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, तारागण इत्यादि से हैं। ये सब दृष्ट रूपवान् लोक-लोकान्तर पृथ्वी के अन्तर्गत आते हैं। इनके विज्ञान का विस्तारपूर्वक वर्णन हमने "ब्रह्म-विज्ञान" ग्रन्थ में किया है। ये लोक करोड़ों वर्षों में शीतल होकर प्राणियों के निवास योग्य हुए हैं। हमारा पृथ्वी मण्डल भी इन्हीं में से एक है। इसी के ऊपर अन्य प्राणियों के प्रादुर्भाव के पश्चात् मानव की सर्वप्रथम अमैथुनी सृष्टि हुई। उसके पश्चात् मैथुनी सन्तति का क्रम प्रारम्भ हुआ। भूमि के शीतल हो जाने पर उपजाऊ भूमि के प्रदेशों में वनस्पति, औषधि, वृक्ष, लताएं, जीव, जन्तु, जलचर, थलचर, नभचर, पशु आदि अनेक जीवों की उत्पत्ति हुई। उसके बाद अमैथुनी मानवी सृष्टि की उत्पत्ति हुई। सर्वप्रथम माता का कार्य इसी रत्नगर्भा पृथ्वी ने सम्पन्न किया था। इसके गर्भ से मनुष्यों के शरीरों का प्रथम निर्माण हुआ था। उस समय सूक्ष्म शरीरों ने भूमि के ऐसे स्थलों में प्रवेश किया जहाँ से समय पाकर सृष्टि के प्रारम्भ में जब यह भूमि निवास योग्य हो गई तब आदिम प्रौढ़ स्त्री और पुरुषों के जोड़ों ने पूर्णरूपेण सम्पन्न होकर सूर्य का प्रथम बार प्रकाश देखा। जैसे वर्षा ऋतु में भूमि सलिला-तरल, कोमल और आर्द्र हो जाती है तब उसमें से विविध जीव-जन्तु कीट पतङ्ग उत्पन्न होकर प्रौढ़ रूप में बाहर निकल आते हैं। यह विज्ञान युक्ति और तर्क से समीचीन प्रतीत होता है और अनुभव द्वारा भी सिद्ध होता है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि यदि सर्वाङ्गीण सृष्टि की सामूहिक प्रलय न मानें और आंशिक फलस्वरूप एक लोक के पश्चात् दूसरे लोक का विध्वंस मानें तो एक लोक से दूसरे लोक में गमनागमन द्वारा प्राणियों की परम्परा चलती रहे तो भी सृष्टिक्रम

उत्पत्ति बिना चलता रह सकता है। किन्तु नैसर्गिक पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश अनुभव में एक साथ होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। उनकी नवीनता और पुराणता प्रत्यक्ष ही है। जिन नियमों के अन्तर्गत एक लोक उत्पन्न हो सकता है उन्हीं के अन्तर्गत एक साथ ही अनेक लोक लोकान्तर भी उत्पन्न हो सकते हैं। फिर एक अवसर ऐसा भी आना चाहिये जब लोक लोकान्तर जीर्ण-शीर्ण होकर अपने पुरातन उपादान कारण में प्रवेश करके नूतन भाव को प्राप्त हो सकें, जिससे उनका प्रयोजनात्मक कार्य कारण प्रवाह रूपी परम्परा चलती रहे। जैसे एक लोक में सृष्टि आरम्भ हो सकती है वैसे ही दूसरे लोक में भी हो सकती है। जब भी कोई लोक बसने के योग्य बन जाता है तब उसमें प्राणियों की उत्पत्ति होने लगती है। मानव शरीरों की उत्पत्ति के समय उनका उपादान कारण तो पंचभूत ही होंगे। मानव शरीर में भौतिक वायु ही प्राण रूप में सहकारी होती है अथवा सूक्ष्म शरीर सम्बन्धी प्राण ही उसमें कार्य करता है।

वास्तव में सूक्ष्म शरीरगत सूक्ष्म प्राण रूप वायु ही कार्य रूप में परिणत होकर स्थूल शरीर में प्रविष्ट होती है। यूँ भी कह सकते हैं कि स्पर्श तन्मात्रा परिणाम भाव को प्राप्त होकर स्थूल प्राण के रूप में शरीरों में प्रविष्ट होती है। जब तक सूक्ष्म भूत या स्पर्शतन्मात्रा आकाश मण्डल में रहती है तब तक उसकी संज्ञा सूक्ष्म भूत या तन्मात्रा ही रहती है। योग की परिभाषा में यह सूक्ष्म भूत कहलाते हैं। सांख्य की दृष्टि से तन्मात्राएं और न्याय की परिभाषा में परमाणु कहे जाते हैं। जिस समय शरीर की रचना होती है उस समय वायु सहकारी उपादान कारण बनकर प्राण के रूप में परिणत हो जाता है। अतः वायुभूत स्थूल शरीर की रचना के समय प्राण के रूप में स्थित होता है। कौषीतकि उपनिषद्[1] में आयु को प्राण माना है और प्राण को ही आयुरूप प्रतिपादित किया है। प्राण को ही अमृत माना है। जब तक इस शरीर में प्राण वास करता है तब तक ही जीवन का अस्तित्व है। प्राण के द्वारा ही मानव इस लोक में योगादि साधना द्वारा अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है। प्राण ही शरीर में गति का हेतु है, इसके बिना शरीर में कोई भी कर्म या गति होना सम्भव नहीं हैं। पृथ्वी के गर्भ में जब मानवशरीर बनता तथा पनपता है उस समय वायुभूत ही परिणामभाव को प्राप्त होकर प्राण के रूप में उनमें प्रवेश कर जाता है; फलतः पार्थिव शरीर में गति या क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यह गति स्थूल शरीर के विकास

१. "आयुः प्राणःप्राणो वा आयुः प्राणएवामृतं यावद्धयस्मिञ्छरीरे प्राणी वसति तावदायुः प्राणेन ह्येवामुष्मिँल्लोकेऽमृतत्वमाप्नोति" ॥ कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् अ० ३ मं० २

में भी सहायक बनती है और तब ही उसका नाम प्राण हो जाता है। चेतन स्वरूप आत्मा के साथ मिलकर जड़ प्राण में भी चेतना सी आ जाती है और वह ऐसा भासने लगता है मानो वही जीवनी शक्ति है या सब प्रकार से जीवन का आधार ही है। कारण यह है कि आत्मा की अपेक्षा वह प्रत्यक्ष रूप में अनुभव का विषय बनता है और साधारणतया वही जन्म-मरण का हेतु या कारण प्रतीत होता है। वायुरूप प्राण पृथ्वी के गर्भस्थ स्थूल शरीरों में प्रवेश कर अपना अस्तित्व कायम करके उन शरीरों में गति या क्रिया का हेतु बनता है और तब ही उन शरीरों में सजीवता या जीवन का संचार प्रारम्भ हो पाता है। अतएव इस विकासशील शरीर का आदि उद्गम भूमि से ही मानना समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि उससे पूर्व माता-पिता तो होते ही नहीं जिनके द्वारा पार्थिव शरीर का निर्माण हो सके। अतः सृष्टि के प्रारम्भ में अयोनिज जीव सृष्टि ही माननी पड़ेगी।

दूसरी सृष्टि जलचरों की है। जैसे समुद्रों, तालाबों तथा कूप आदियों में जलचर जीवों का अस्तित्व देखने में आता है। इनकी उत्पत्ति जल से ही होती है। जल ही उनका गर्भस्थान है। इनमें जल का भाग अधिक होता है और पृथ्वी का अंश कम। इनका निवास और गमनागमन आदि सब कार्य जल में ही होता है। इनके शरीरों में जल की प्रधानता रहती है, परन्तु मानव शरीर में पृथ्वी की ही प्रधानता होती है। मानव का प्रादुर्भाव भी सर्वप्रथम पृथ्वी से ही होता है। मानव प्राणी का आहार भी भूमि से उत्पन्न होने वाले अन्न, वनस्पति, औषधि आदि ही होते हैं।

तीसरी सृष्टि आकाश में विचरने वाले पक्षी आदि की होती है। आकाश में उड़ने वाले प्रायः सभी पक्षीजातीय उड़नशील जीव अपने अंडे वृक्षों पर ही देते हैं जहां उनको रहने के लिये घोंसले बने होते हैं। एक प्रकार से इनकी उत्पत्ति आकाश में वृक्षों पर ही होती है। गमनागमनादि कार्य तथा निवास भी आकाश में ही होता है। ये भूमि पर भी चलते हैं और जल में भी तैरते हैं और आकाश में तो जीवनपर्यन्त उड़ते ही हैं। इनको आहार (खान-पान) भी भूमि से ही प्राप्त होते हैं। इन उड़नशील पक्षी जातीय जीवों को अंडज कहा जाता है। एक और भो जीव-सृष्टि है जो स्वेदज के नाम से प्रसिद्ध है। शरीरों के मैल और पसीने से उनकी उत्पत्ति होती है—जैसे जूं और लीख आदि प्राणी। विश्व ब्रह्माण्ड में जितने भी प्राणधारी जीव हैं उनमें से मानव की प्रधानता मानी जाती है, क्योंकि मानव प्राणी ही विशेषकर ज्ञानप्रधान होता है। अतः समस्त प्राणियों की सृष्टि सर्वप्रथम अमैथुनी ही स्वीकार करनी होगी।

हमारा मुख्य अभिप्राय यहां मनुष्य के शरीर से है क्योंकि उसमें हर प्रकार से ज्ञान की प्रधानता है।

ज्ञान दो प्रकार का होता है, एक आध्यात्मिक विज्ञान जिसके द्वारा शरीर, इन्द्रियां, अन्तःकरण और उनके उपादान कारण तथा आत्मा-परमात्मा का विज्ञान और साक्षात्कार होता है। दूसरा भौतिक विज्ञान है, जैसे पंचभूतों की नैसर्गिक क्रियाएं और विभिन्न प्रकार के कार्य, उनसे उत्पन्न हुए पदार्थों का विज्ञान एवं मनुष्यों द्वारा उपयुक्त पदार्थों का निर्माण और उपयोग सम्मिलिति किया जाता है। मानव योनि विशेष रूप से ज्ञान सम्पादन के लिये ही उत्पन्न हुई है और उसमें ज्ञान की ही प्रधानता है, उनके साथ-साथ जीवन सम्प्रेरक सामान्य ज्ञान होता है। जब तक मनुष्य में विशेष ज्ञान की वृद्धि नहीं होती तब तक उसमें भी पशु आदि के समान सामान्य ज्ञान ही रहता है। सामान्य ज्ञान तो मनुष्य में तथा अन्य सभी जीवों में स्वाभाविक ही होता है, अर्थात् वह जन्म से ही सब प्राणियों में थोड़ा बहुत विद्यमान् होता है। जैसे भूख-प्यास, निद्रा-जागरण, स्वप्न, राग, द्वेष, अभिमान, भय, अज्ञान आदि। इसी प्रकार सामान्य कर्म भी मानव में स्वाभाविक होता है; जैसे गमनागमन, उछलकूद, घूमना, दौड़ना, सिकुड़ना, उठना, बैठना, बढ़ना आदि स्वभावगत ही होते हैं। कुछ ज्ञान और कर्म निमित्त से भी मानवेतर अन्य प्राणियों में साधारण रूप से होते हैं, पर मानव प्राणी में ज्ञान और कर्म विशेष और प्रधानतया होते हैं। पठन-पाठन, पदार्थों का अनुसन्धान और विवेचन, साइन्स अथवा विज्ञान का अन्वेषण, मशीनों का आविष्कार और निर्माण आदि करना। यही नहीं भवन-निर्माण, पुल, बांध तथा नहरों आदि सुविधाजनक साधनों का बनाना, वायुयान, जलपोत, मोटर, रेल, घड़ी आदि मशीनों के निर्माणदि का ज्ञान निमित्त से प्राप्त होता है। विशेष ज्ञान और कर्म जो नैमित्तिक होते हैं उनकी मनुष्यों में ही प्रधानता होती हैं दूसरे प्राणियों में नहीं होती। निमित्त से उत्पन्न ज्ञान और कर्म यद्यपि इतर प्राणियों में भी होते हैं, जैसे—बन्दर, घोड़ा, रीछ, हाथी, गाय, शेर, मछली, कुत्ता, बिल्ली आदि को सिखाकर तथा बाध्य करके मानव उनके द्वारा विविध कार्य सम्पन्न करता है। परन्तु फिर भी अत्यल्प बौद्धिक विकास के कारण इनका ज्ञान और कर्म मनुष्य के समान नहीं हो पाता। मानव बुद्धिजीवी है, बुद्धिविशिष्ट प्राणी है और उसी के द्वारा वह सब प्राणियों पर शासन करता है। वह उन्हें अपने अनुकूल बनाता और चलाता है। परस्पर भी कर्म और ज्ञान का आदान-प्रदान करता है। यही सारे जगत् में विशेष ज्ञानवान् और बुद्धिमान् पाया जाता है। उसके अलौकिक बुद्धिसंगत जीवन से प्रतीत होता है कि मानो सृष्टि

इसी के निमित्त हुई हो। इसका ज्ञान और कर्म असीमित है। यह दोनों अर्थात् ज्ञान और कर्म साथ लेकर ही उत्पन्न होता है। मनुष्येतर प्राणियों में निमित्त ज्ञान का विशेष विकास नहीं होता न भविष्य में इसके होने की सम्भावना दिखाई देती है। परन्तु मनुष्य में नैमित्तिक ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। जब किसी व्यक्ति विशेष को इससे सन्तोष, उपरति और बैराग्योदय होता है तब ही इसका अन्त हो पाता है। पृथ्वी पर इसका आगमन इसी लिये हुआ है कि इस विशेष ज्ञान और कर्म की पराकाष्ठा आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार अथवा सर्वदुःखनिवृत्ति साधक की स्वरूप-प्रतिष्ठा में निहित है। सृष्टि के आरम्भ में ही अमैथुनी युवा मानव का सृजन हुआ था, यदि ऐसा न हुआ होता तो शिशु आता ही कहां से और क्या उसकी रक्षा एवं पालन-पोषण आदि के लिये माता-पिता की आवश्यकता न होती। यदि वृद्ध मानवों की सृष्टि होती तो आगे मैथुनी परम्परा कैसे चल पाती ? इसीलिए अनेक युवक जोड़े उत्पन्न हुए। ये सब स्वाभाविक और सामान्य ज्ञान को लेकर ही उत्पन्न हुए थे। उस समय माता-पिता, बहिन-भाई तथा पुत्र-पुत्री के सम्बन्ध निश्चित नहीं हुए थे। इतनी योग्यता और समझ भी नहीं थी। शनैःशनैः स्त्री-पुरुष का सामान्य-सा भेद ज्ञान प्राप्त हुआ था। कालान्तर में जब उनकी सन्तानें पैदा हुईं तो वहां से मैथुनी सृष्टि का आरम्भ हुआ। विशेष ज्ञान की उत्पत्ति में उन्हें कितना काल लगा होगा यह केवल अनुमान एवं कल्पना की ही उड़ानमात्र का विषय बनकर रह जाता है। वर्तमान काल में भी तो नवजात बालक की ज्ञान-उपलब्धि में पर्याप्त दीर्घकाल लग जाता हैं।

मैथुनी सृष्टि में सर्वप्रथम प्राण की उत्पत्ति—मैथुनी सृष्टि के आरम्भ में मासिक धर्म के पश्चात् स्त्री-पुरुष के संभोगात्मक सम्बन्ध से रज-वीर्य का सम्मिश्रण होकर स्त्री में गर्भाधान होता है। अब शंका पैदा होती है कि गर्भाधान की प्रक्रिया में रज और वीर्य बुद्बुद् के रूप में अथवा कलल के रूप में गर्भ के प्रेरक होते हैं किवा तत्सम्बन्धी एक कीटाणु पनपता है और विकास भाव को प्राप्त होकर शरीर का आरम्भक होता है। यदि विकास माना जाता है तब तो कीटाणु का ही विकास माना जाएगा और आगे चलकर यही मानव शरीर धारण कर लेगा। इस प्रकार कीटाणुओं की परम्परा उसी भांति चलती रहेगी जिस प्रकार वृक्ष के एक बीज की परम्परा सदा वृक्ष के रूप में चलती रहती है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार रज-वीर्य का सम्मिश्रण होकर प्रथम बुद्बुद् के रूप में फिर कलल के रूप में मिलकर शरीर रचना का रूप लेते हैं। इस सम्बन्ध में यह शंका उत्पन्न होती है कि सन्तान की आकृति माता-पिता

से मिलती-जुलती क्यों होती है ? रज और वीर्य की द्रवात्मक सामग्री में माता-पिता की आकृति कैसे प्रतिबिम्बित होती है ? बीज की परम्परा मानने से तो प्रतिबिम्ब का प्रश्न ही नहीं उठता। स्वभाव के अन्तर्गत ही आकृति आ जाएगी। जैसे आम व अन्य वृक्षों के फल, पत्तियों आदि में उसके बीज की परम्परा चलती है। सदा उसी प्रकार बीजों से वृक्ष और बीजरूप फल उत्पन्न होते रहते हैं। सब की आकृति समान होती है। इसी प्रकार माता-पिता के कीटाणुरूप रज-वीर्य सम्बन्धी यह परम्परा भी चलनी संभव होगी। उक्त कीटाणु किंवा कलल में आकृति का आभास कठिन प्रतीत होता है। जिस प्रकार एक अत्यन्त सूक्ष्म कीटाणुरूप जीव के विकास में आपत्ति हो सकती है उसी प्रकार उस बुद्बुद् और कलल में भी आकृति के विषय में आपत्ति स्वाभाविक है। परन्तु रज-वीर्य के एक कीटाणु के विकसित होने में आपत्ति की उतनी संभावना नहीं है। इस सम्बन्ध में आयुर्वेद के वैद्यों और ऐलोपैथी के डाक्टरों में मतभेद है।

आयुर्वेद के विशेषज्ञ बुद्बुद् और कलल से शरीर की उत्पत्ति मानते हैं। और ऐलोपैथी के सिद्धान्तानुसार एक ही कीटाणु से शरीर का विकास होता है। ऐलोपैथिक डाक्टर लोग अनुवीक्षण यंत्र द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि पुरुष के थोड़े से वीर्य में सहस्रों कीटाणु होते हैं और स्त्री के रज में नन्हें-नन्हें अण्डों के रूप में सहस्रों कीटाणु होते हैं। उनमें पिता के वीर्य का एक कीटाणु माता के अण्डसम कीटाणु में प्रविष्ट होकर वही विकासभाव को प्राप्त होता है और शिशु के रूप में पनपता हुआ माता के गर्भ से उत्पन्न होता है। यदि पुरुष के वीर्य का कीटाणु बलविहीन होता है तो वह माता के अण्डसम कीटाणु में ही घुल-मिल जाता है। फलतः स्त्री सम्बन्धी कीटाणु बालिका के रूप में बढ़ने लगता है और यदि माता का कीटाणु कमजोर होता है तो बालक के रूप में वृद्धि को प्राप्त होने लगता है। आयुर्वेदाचार्य बुद्बुद् या कलल का ही सम्मिलित रूप से शरीरभाव को प्राप्त होना मानते हैं। इस भांति वैद्यों ने स्थूल कलल को और डाक्टरों ने एक कीटाणु को शरीर के प्रति मूल कारण माना है। डाक्टरों और वैद्यों में केवल सूक्ष्मता और स्थूलता का ही अन्तर प्रतीत होता है। दोनों के विचारों में कोई अधिक अन्तर नहीं है। आयुर्वेद कलल में पुरुष का प्रतिबिम्ब मानता है। कभी-कभी सन्तानों की आकृति माता-पिता से भिन्न होती है। इस विषय में आयुर्वेद का मत है कि गर्भ धारण करने के पश्चात् माता जिस पुरुष या स्त्री को देखती है उसकी आकृति का प्रतिबिम्ब या आभास गर्भस्थ बालक या बालिका पर पड़ता है तब उसकी आकृति तद्रूप सी हो जाती है। वैसे अनुभव में ऐसा अन्तर कम ही देखने में आता है। प्रायः सन्तानों की आकृति माता-पिता के अनुरूप ही होती है।

माता-पिता के गुण-दोष भी सन्तानों में आते देखे जाते हैं। उनके रोग भी सन्तानों में आ जाते हैं और कभी-कभी रोगों की परम्परा भी सन्तानों में चलती रहती है। सूक्ष्म शरीरगत गुण-दोष भी न्यूनाधिक मात्रा में सन्तानों में संक्रान्त हो जाते हैं। माता-पिता का स्वभाव कभी-कभी सन्तानों में नहीं भी आता। यद्यपि स्थूल शरीर के गुण व दोष सन्तान सम्बन्धी स्थूल शरीर में प्रायः आते हैं परन्तु सूक्ष्म शरीर के गुण और दोष स्वभाव के रूप में नहीं होते। अतः स्थूल शरीर का विकास तदनुरूप होते हुए भी सूक्ष्म शरीर की परम्परा उससे कुछ पृथक् ही माननी चाहिए क्योंकि सन्तानों के स्वभाव माता-पिता से कुछ भिन्न भी होते हैं। सूक्ष्म शरीर के अंग होने के कारण उनके मन और बुद्धि का विकास बहुत कुछ पृथक् ही होता है। मुख्यतया इस क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वभाव की प्रधानता रहती है क्योंकि व्यक्तित्व में निर्णायक मन और बुद्धि के अपने धर्म—काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग द्वेषादि जन्म-जन्मान्तरों से चले आ रहे होते है। इनकी उपज, प्रसार व ह्रास बुद्धि में ही होते हैं और बुद्धि में ही ये सूक्ष्म रूप से बने रहते हैं। अतः सूक्ष्म शरीर के स्वभाव और परम्पराएं स्थूल शरीर के गठन से पृथक् और भिन्न ही होती हैं। सन्तानों में स्थूल शरीर का स्वभाव तो बहुत कुछ पैतृक सहायता लेता है परन्तु अन्तःकरणसम्बन्धी परम्परा और धर्म, अधर्म तथा सुखादि बौद्धिक और मनोगत रूप-रेखा उनमें अनादि काल से ही चली आ रही होती है। जब स्त्री-पुरुष का संगम होता है तब पृथ्वी और जल से बने खाद्य और पेय पदार्थों का सारभूत रज और वीर्य संघातभाव को प्राप्त होकर बालक या वालिका के रूप में विकसित होता है। गति का हेतु वायु प्राण के रूप में परिणाम भाव को प्राप्त होकर गर्भस्थ बालक के विकास में प्रधान रूप से सहकारी बनता है। बालक की शारीरिक वृद्धि के साथ-साथ प्राण का भी विस्तार होने लगता है। ज्यों-ज्यों बालक के अंग प्रत्यंग विकासभाव को प्राप्त होते जाते हैं त्यों-त्यों प्राण भी शरीर में अभिसिक्त होता जाता है। उसके समस्त शरीर में इसका प्रसार और संचार होने लगता है। इस प्रकार प्राण की पूर्ण वृद्धि एवं विभाजन आरम्भ हो जाता है।

प्राण शरीर में दस रूपों में विभक्त होता है। प्रश्न हो सकता है कि प्राण सर्वप्रथम शरीर के किस भाग में प्रवेश करता है और इसकी क्रिया शरीर के किस अंग से प्रारम्भ होती है ? स्मर्तव्य यह है कि वास्तव में वायुभूत ही परिणत होकर प्राण के रूप में आया है। अग्नि से उत्पन्न तेज भी कार्य-रूपेण शरीर में दस प्रकार का है। प्राण इससे सूक्ष्म है अतः वह तेज में भी व्याप्त होता है। प्राण, तेज तथा जल से बने हुए शरीर में रक्तादि भी हैं जिनको प्राण और तेज व्याप्त कर लेते हैं।

पृथिवी से बनी अस्थियां, मास-पेशियां, नस-नाड़ियां सब तेज से व्याप्त हैं। सूक्ष्म सदा स्थूल में व्याप्त हो जाता है। यह सर्व-सम्मत एवं अनुभूत तत्त्व व सिद्धान्त है। सर्वोपरि सूक्ष्म प्राण तीनों भूतों से बने शरीर में व्याप्त रहता है। यही गति प्रदान करता है। प्राण का इसीलिए विशेष महत्व है। प्राण के अभाव से शरीर में दुर्गन्ध आने लगती है। जब तक शरीर में प्राण रहता है तब तक इसमें जीवन बना रहता है। इसकी उपस्थिति से ही मासल शरीर को जीवित माना जाता है। चाहे हम एक कीटाणु को शरीर का उपादान कारण मानें या सम्पूर्ण बुद्‌बुद् या कलल को मानें, दोनों स्थितियों में गति, कर्म, विकास तथा वृद्धि का हेतु प्राण ही है। यद्यपि प्राण में कर्म की ही प्रधानता है परन्तु चेतन के सन्निधान अथवा संयोग से इसमें भी चेतना सी आ जाती है अतः शरीर में सर्वप्रथम वायु रूप प्राण का ही प्रवेश मानना चाहिए।

शंका—उस कीटाणु या कलल में यदि सूक्ष्म शरीर से आया हुआ प्राण मानें तो क्या आपत्ति होगी ?

समाधान—आपत्ति यह होगी कि वायुभूत का कार्य न होकर फिर वह प्राण स्थूल देह में क्रिया क्या करेगा ? उस स्थिति में तो शरीर की उत्पत्ति आपको वायु भूत के बिना ही माननी होगी परन्तु ऐसा तो कहीं भी सुनने, देखने वा पढ़ने में नहीं आता। स्थूल शरीर सर्वत्र पंच भौतिक ही माना जाता है और सिद्ध भी यही होता है। अतः स्थूल प्राण की सत्ता तथा उत्पत्ति इस जीववाहक शरीर में ही मानना समुचित होगा। यह तो हम समझ ही चुके हैं कि भौतिक वायु ही प्राण के रूप में परिणत होकर मानव देह में कर्म या गति का हेतु होता है। प्राण ही गर्भस्थ बालक के विकास तथा वृद्धि का प्रधान कारण भी है।

प्राण द्वारा सम्पादित श्वसन क्रिया बालक को जीवित बनाए रखती है और इसी से शरीर में चेतना बनी रहती है। आहारग्रहण एवं उसकी पाचनक्रिया प्राण के द्वारा ही सम्पन्न होती है। यही शरीर के अंग प्रत्यंग की पूर्णवृद्धि का कारण बनता है। ज्यों-ज्यों शरीर के अंगों का विकास होता जाता है गर्भस्थ बालक के शरीर के जब सारे अंग प्रत्यंग पूर्ण हो जाते हैं तब यह प्राण समस्त शरीर में विभिन्न कार्यों के अनुकूल विभक्त हो जाता है और शरीर के अनेक स्थलों में उसका तत्तद व्यापार बट जाता है। शरीर में कार्यभेद से यह दस प्रकार का हो जाता है और विभिन्न दस स्थानों में स्थित रहता है। प्राण तो वास्तव में एक ही है। शरीर में स्थानभेद से और कार्य

भेद से अपेक्षित क्रियाओं को करता हुआ दस प्रकार का हो गया है। तदनुसार इसकी व्यान, उदान, प्राण, समान, अपान, धनंजय, नाग, कूर्म, कृकल और देवदत्त संज्ञाएं हो जाती हैं।

व्यान प्राण—शरीर की रचना में सर्वप्रथम आकाश भूत सहकारी बना। तदनन्तर व्यान प्राण भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो गया, आकाश से व्याप्त शरीर के सभी भागों में व्यान प्राण समा गया और आकाश-प्रविष्ट शरीर भर में सर्वत्र अपना कार्य सम्पादन करने लगा। इस प्रकार शरीर ने आकाश के पश्चात् या साथ-साथ ही सर्वप्रथम व्यान प्राण को धारण किया जो सूक्ष्म रूपेण उसमें व्याप्त हुआ और फलतः उसकी व्यान संज्ञा हुई। व्यान प्राण सूक्ष्म शरीर में ज्ञान और गति का संचार करता है। सम्पूर्ण शरीर में अब विचरने की शक्ति आ गई। शरीर के विकास के साथ-साथ व्यान प्राण का भी विकास होता गया। अन्त में सात्विक, राजस् और तामस् भेद से तीन प्रकार के गुण ग्रहण करते हुए सात्विक अवस्था में ज्ञान का संचार, राजसिक अवस्था में क्रिया का हेतु, और तामसिक अवस्था में स्थिति का आधार बन गया।

सत्व प्रधान अवस्था में व्यान सम्बन्धी व्यापार—जागृत अवस्था में ज्ञान का हेतु होता है। योगी जब समाधिस्थ होता है तब उसके मस्तिष्क के ज्ञान-वाहक तन्तु या सूक्ष्म नाड़ियां ज्ञान का प्रसार करती रहती हैं तथा व्यान की सामान्य सी गति बनी रहती है। इस स्थिति में ज्ञानवाहक तन्तु सत्व अथवा ज्ञान का ही वहन करते हैं जो निरन्तर प्राण द्वारा ही होता है। उस समय शान्ति का साम्राज्य होता है। ज्ञानवाहक तन्तु शरीर में सर्वत्र शान्ति की वर्षा करते हैं और आह्लाद की भावना बनी रहती है। राजस् और तामस् वृत्तियां प्रसुप्त हो जाती हैं।

रजःप्रधान अवस्था में व्यान—रजःप्रधान व्यान के ज्ञानवाहक तन्तु युद्ध काल में, क्रोध की अवस्था में, मैथुन तथा उछल-कूद के समय प्रकुपित होकर शरीर को भरसक उत्तेजित कर देते हैं। व्यक्ति को उस स्थिति का ज्ञान भी बना रहता है। ज्ञान की गतिविधि तीव्र हो जाती है। शरीरस्थ सब धातुएं सन्तप्त हो जाती हैं। सर्वत्र मन बुद्धि आदि में चंचलता का प्रसार हो जाता है।

तमःप्रधान अवस्था में व्यान—तमःप्रधान अवस्था में तन्द्रा, निद्रा, जड़ता, मूर्च्छा छा जाती है और ज्ञान का प्रसार रुक जाता है; सब प्रकार का संवेदन ही समाप्त हो जाता है। शरीर की रचना में भूतों के भेद से प्राण का भी भेद हो जाता है। वायु-भूत उसकी रचना में सहकारी उपादान कारण बना और पीछे से प्रथम प्राण के रूप

में परिणत हुआ, वह प्राण फिर शरीर में विशेष उपादेयार्थ विभक्त होकर प्राण से व्यान और उसके उपरान्त दूसरी अवस्थागत उदान के रूप में परिणत हुआ।

कण्ठस्थ उदान प्राण—उदान भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीन प्रकार का हो जाता है। समाधि की अवस्था में सत्त्वप्रधान, जागृत अवस्था में रज:प्रधान और निद्रावस्था में तम:प्रधान रहता है। यह श्वास-प्रश्वास के द्वारा जीवन को कायम रखता है और २४ घंटे श्वसन क्रिया के आदान-प्रदान में लगा रहता है।

सत्त्वप्रधान उदान प्राण—धारणा ध्यान के पश्चात् जब हम सम्प्रज्ञात समाधि में प्रवेश करते हैं तब उदान को अपनी समाधि का विषय बनाते हैं। उस समय इसका प्रभाव शनैः-शनैः शान्त हो जाता है। जागृत अवस्था के रजोगुणात्मक इसके व्यापार बन्द होने लगते हैं, केवल श्वास-प्रश्वास की सामान्य गति की अनुभूति होती रहती है। शरीर के ऊपरी भाग में स्थित उपप्राणों की गति का ज्ञान नहीं रहता। हृदय और कंठ में श्वास-प्रश्वास के गमनागमन की प्रतीति भी नहीं होती। कंठ प्रदेश में प्राण की गति अत्यन्त मन्द सी हो जाती है। ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो प्राण ऊपर तथा नीचे से सिमट कर कण्ठ में ही आ गये हों और इस छोटे से देश में उदान के रूप में बैठ गये हों। उस काल में चेतना का सान्निध्य अत्यन्त समीप हो जाता है। जब उदान का चेतना के साथ स्पर्श होता है तब अत्यन्त आनन्द की अनुभूति होती है, मानो कोई व्यवधान ही बीच में नहीं रहा। उस दशा में चेतना का भेदाभेद रूप से साक्षात्कार होने लगता है।

रज:प्रधान उदान—प्रधान रूप से उद्‌गार, विजृंभण, खांसी तथा प्राणायाम के समय, तथा भाषण काल में गले में शोथ होने पर, व्यायाम करते समय, युद्ध काल में, पर्वत पर चढ़ते समय, मैथुन काल, में और दौड़ते समय उदान प्राण में रजस् की प्रधानता होती है। इन सब अवस्थाओं में उदान का वेग अति प्रचण्ड हो जाता है। यह शरीर के ऊपर तथा नीचे के भागों को अधिकार में रखता है। अन्य सारे प्राण और उप-प्राण इसी के नियन्त्रण में रहते हैं।

तम:प्रधान उदान का कार्य—निद्रा तथा मूर्च्छा की दशा में इसकी प्रधानता होती है। इस अवस्था में इसके गमनागमन का मान नहीं रहता, परन्तु आन्तरिक रूप में एकसमान ही मन्द गति से इसका गमनागमन बना रहता है। इसके अन्तर्गत सर्व-प्रकार के संवेदनों का अभाव सा हो जाता है। इसी कारण इसे तम:प्रधान कहा जाता है। सत्त्व और रज के व्यापारों का भी ज्ञान नहीं रहता; क्योंकि इन दोनों के सम्पूर्ण

कर्म एवं व्यापार बन्द हो जाते हैं, केवल अन्धकार, जड़ता और शून्यता सी छायी रहती है।

वायुभूत और उदान में कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है। शरीर के देश विशेष के भेद से इसका भी भेद हो जाता है। व्यान के गर्भ में रहते हुए कण्ठ के ऊपर और नीचे के देशों में आदान और प्रदान के रूप में, ग्रहण और त्यागरूप कार्य करता है। कण्ठ के माध्यम से भी कार्य होते हैं, और वे सब उदान के द्वारा ही होते हैं। श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया उदान द्वारा ही प्रसारित होती है। खाद्य, पेय, लेह्य, चोष्य आदि सर्व पदार्थ इसी के द्वारा भोगे जाते हैं। उपप्राणों को बल और नीचे के प्राणों को शक्ति भी यही प्रदान करता है। बाहर के पदार्थों को निगलने की तथा अन्दर से बाहर धकेल कर फेंकने की शक्ति भी इसी में है। वाणी को मधुर, सुरीली और प्रभावशाली यही बनाता है। थूक को बाहर दूर फेंकना, अन्दर ले जाना, वमन करना, आमाशय से वमन को ऊपर ले जाना, शरीर को उठाये रखना, प्राण को हृदय तक आकर्षित करना, हृदय से मस्तिष्क तक प्राण को ले जाना, दोनों का सम्बन्ध बनाये रखना, हृदय की ज्योति को मस्तिष्क में ले जाना तथा मस्तिष्क की ज्योति को हृदय में पहुंचाना, सूक्ष्म और कारण शरीरों का संयोग बनाये रखना, ये सब इसी के कार्य हैं। पांचों उपप्राण इसी की शक्ति और बल से कार्य करते हैं। प्राण की गति से ही ज्योति की गति होती है। अतः शरीर में ज्योति का संचार इसी के द्वारा होता है। इस पर अधिकार हो जाने से योगी को भूख-प्यास बहुत काल तक नहीं सताती। हृदय और मस्तिष्क का संयोग और वियोग भी इसी के द्वारा होता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों शरीरों का पारस्परिक सम्बन्ध यही स्थापित किये रहता है।

हृदयस्थ मुख्य प्राण का कार्य—हृदय प्रदेश के प्राण की संज्ञा प्राण रखी गयी है। वास्तव में हृदय में स्थित प्राण ही प्रधान रूप से जीवन का आधार बना हुआ है। यह दिन-रात चौबीसों घंटे जागृत रहता है। सम्पूर्ण शरीर का बल-पराक्रम तथा ऐश्वर्यशाली अस्तित्व इसी पर आधारित है। यदि यह मूलप्राण रक्तप्रक्षेपण का कार्य कुछ क्षणों के लिये भी स्थगित कर देता है तो सारे देहसाम्राज्य में ही मरणत्रास की परिस्थिति पैदा हो जाती है। श्वास-प्रश्वास का गमनागमन प्रधान रूप से हृदय पर्यन्त ही प्रतीति में आता है। जब तक यह अपना कार्य ठीक-ठीक करता रहता है तभी तक उस के ठीक-ठीक कार्य से मनुष्य का शरीर स्वस्थ और साहसयुक्त बना रहता है और उसके कुपित होने पर अनेक प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं। जो व्यक्ति प्राणायाम का अभ्यास करते रहते हैं उनका शरीर बलवान और शक्तिशाली बना

रहता है। प्राणायाम के फलस्वरूप शरीर इन्द्रियों और मन पर भी अधिकार प्राप्त हो जाता है। और मानव दीर्घायु प्राप्त करने में समर्थ होता है। प्राणायाम दरअसल प्राणों का व्यायाम है, इसके द्वारा प्राण की शक्तियों का विकास होता है। हृदय सम्बन्धी रोग भी उत्पन्न नहीं होते, रक्त की निरन्तर शुद्धि होती रहती है। रक्त जमने नहीं पाता। अनेक रोगों से मुक्ति-लाभ होता है। तीव्र रक्तचाप तथा मन्द रक्तचाप आदि भीषण हृदय के रोग नहीं होते, हृदय में दुर्बलता नहीं आत्ती। फुफ्फुस भी ठीक कार्य करते रहते हैं। पाचनशक्ति ठीक बनी रहती है। जिगर, तिल्ली, आमाशय, पक्वाशय तथा हृदय, सब ही ठीक कार्य करते रहते हैं। बाह्य और आभ्यन्तरिक कुम्भक प्राणायाम करते रहने से हृदय के संकोच और विकास के कारण हृदय रोग नहीं होते। हृदयस्थ प्राण चौबीसों घंटे रक्तप्रक्षेपण का कार्य करता रहता है। इसकी इस क्रिया से ही जीवन बना रहता है। रक्त शुद्ध होकर तरल बना रहता है जिससे छोटी से छोटी नस नाड़ियों में रक्त-प्रवाह में अवरोध नहीं होता है। शरीर के किसी भी स्थल पर रक्त का अभाव या भारी दबाव नहीं पड़ता। नस नाड़ियां भी संकोच व प्रसार द्वारा विशुद्ध होकर अपनी अन्तिम सीमा तक खुली रहती है। उनमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। प्राण का सम्बन्ध मुख्य रूप से आत्मा के साथ बना रहता है। क्योंकि आत्मा का निवास हृदय में ही है। उपनिषद् में कहा गया है—"चेतन आत्मा प्राण में स्थित है, प्राण के भीतर है, उस प्राण में व्याप्त है परन्तु जड़ प्राण उसे नहीं जानता। यद्यपि प्राण ही उस पुरःस्वामी का शरीर बना हुआ है और वही भीतर से उसका संचालन भी कर रहा है। इस तरह आत्मा अविकारी है और अमृत स्वरूप अविनाशी है।"[1] यदि सारे शरीर में आत्मा की व्यापकता मानें तो भी हृदय प्रदेश एक ऐसा स्थान है जिससे सब नस-नाड़ियों, प्रधान ग्रन्थियों और फेफड़ों का सीधा सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। इसी प्रकार हृदय का संयोग प्राण के साथ भी है। कण्ठ तक इसका कार्य-क्षेत्र है। इसके माध्यम से हम आत्मा के समीप पहुंचते हैं और यहां ही भासमान् चित्तस्थ आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। पांच प्रकार के प्राणव्यूह में यह मध्यस्थ प्राण है। अतः यह अन्य चारों का संचालक भी है। हृदय की धड़कन यहां से ही रक्त को नीचे और ऊपर ले जाती है जिसके द्वारा जीवनी शक्ति

१. यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं।
यः प्राणमन्तरोयमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥
—बृहदारण्यक उप० अ० ३ ब्रा० ७ मं० १६

का सारे शरीर में संचार होता है। चेतना को एक प्रकार से यह कम्पायमान सा बनाये रखता है। चेतना से हमारा तात्पर्य आत्मा की चेतन शक्ति से है। चेतन आत्मा के सम्बन्ध से प्राण गतिशील हो उठता है क्योंकि प्राण भी स्वभाव से क्रियाशील है। शरीर में आत्मा को आकाश के समान समझना चाहिए, अन्तर केवल इतना ही है कि शरीर और प्राण जड़ हैं और आत्मा चेतन। चेतन के सन्निधान से प्राण गतिशील हो जाता है और प्राण से ही जड़ शरीर गतियुक्त एवं क्रियावान् बना हुआ है। आकाश में स्वयं कोई गति नहीं होती, वायु के गतिशील होने से आकाश में गति का आरोप कर दिया जाता है। वास्तव में उसमें गति का सर्वथा अभाव है। प्राण को जीवन का अन्तिम आधार नहीं माना जा सकता; क्योंकि इसका उत्पादक उपादान कारण विद्यमान् है। चेतन के बिना प्राण का स्वयं गतिशील होना असम्भव है। और उसे कोई गति देने वाला होना चाहिये। यदि किसी जड़ पदार्थ को चेतन से पृथक् कर दिया जाय तो दोनों ही गतिहीन हो जाते हैं। वास्तव में दोनों के मध्य पारस्परिक संयोग ही गति का हेतु है। संयोग ही प्राण का विशिष्ट धर्म है क्योंकि प्राण उत्पत्ति धर्मा है और इसका गतिसहित ही उत्पन्न होना सिद्ध होता है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश गतिसाध्य ही होता है। आत्मा कार्य-कारणभाव द्वारा नियमित नहीं होता है। चेतन में अवस्थान्तरता का और परिणाम का सर्वथा अभाव होता है। और आत्मा में गति की कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि वह विकाररहित है। वह किसी को न ग्रहण करता है न किसी का परित्याग करता है और न शरीर में प्रवेश ही करता है। उसमें किसी प्रकार का गमनागमन भी नहीं माना जा सकता। यदि आत्मा को आकाश के समान विभु मान लिया जाय तो उसका आना जाना तथा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करना भी स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। यहाँ यह शंका हो सकती है कि आकाश उत्पत्ति धर्मा है वह विभु नहीं हो सकता। किन्तु आकाश का दृष्टान्त अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी की तुलना में दिया गया है और दृष्टान्त सदैव एकदेशीय ही हुआ करता है। परमात्मा नित्य विभु और व्यापक है। परन्तु प्राण में उस प्रकार का विभुत्व स्वीकार नही किया जा सकता। प्राण की उत्पत्ति होती है, वह एकदेशीय है, अनित्य और सावयव है। उसमें परमात्मा की व्याप्ति तो हो सकती हैं परन्तु आत्मा में परमात्मा की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती क्योंकि चित्तस्थ परमात्मा की ही आत्मसंज्ञा होती है। आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता न तो सावयव और न निरवयव ही सिद्ध होती है। जो बुद्धिमान् और धीर पुरुष आत्मा को नित्य और विभु मानता है वह सर्व चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। फिर न उसमें शोक रहता

है और न मोह[1]। उपनिषद् का यह वाक्य पूर्णतया सत्य है।

हृदयगत प्राण भी सात्विक, राजस् और तामसिक भेद से तीन प्रकार का होता है। अब आगे इसकी तीनों अवस्थाओं का वर्णन करते हैं।

सत्वप्रधान प्राण—प्राण की सत्वप्रधानता में समाधि का उदय होता है। उस काल में प्राण का प्रवाह अति सूक्ष्म और शान्त हो जाता है। साधक को ऐसा अनुभव होता है मानो वह भी प्राणरूप हो गया हो। अथवा प्राण और वह घुल-मिल कर एक हो गये हों। उस समय प्राण का चेतन आत्मा से सम्बन्ध और स्पर्श होता हुआ भी प्रतीत होता है। चिति और चित्त के मध्य आत्मानुभूति में प्राण ही सुपायन तथा माध्यम होता है क्योंकि सत्तारूढ़ प्राण की गति अत्यन्त मन्द होती है। शरीर का भान समाप्त हो चुकता है और चित्त निर्विकल्प होकर पूर्णतया समाहित हो जाता है।

स्थूल शरीर में रजःप्रधान प्राण का व्यापार—रजःप्रधान प्राण हृदय प्रदेश में मुख्यरूप से निरन्तर क्रियाशील रहता है। हृदय से रक्त का प्रक्षेपण और उसका संचार इसका मुख्य कार्य है। इसके अतिरिक्त लुप-डुप शब्द सहित धड़कन भी इसी का कार्य है। व्यायाम, प्राणायाम, आसनादि परिश्रम से होने वाले कार्य करने के समय इसकी गति या धड़कन तीव्र हो जाती है जो रक्त की गति में अत्यन्त तीव्रता की द्योतक होती है। श्वास-प्रश्वास की तीव्र गति के कारण दम फूलने लगता है, रक्तचाप बढ़ जाता है। युद्ध काल में, पर्वत पर चढ़ने के समय, कूदने, उछलने, दौड़ने के समय तथा मैथुन काल में प्राण अत्यन्त प्रचण्ड (तीव्र) रूप धारण कर लेता है। ये सब कार्य रजोगुणात्मक प्राण द्वारा या प्राण में रजोगुण की वृद्धि से प्रेरित होते हैं। लोक व्यवहार में, व्याख्यान देते समय, तीव्र गति से चलने, भार उठाने, भय के समय और कामोत्तेजना के समय रजःप्रधान प्राण ही कार्यवाहक होता है। ऐसे अवसरों पर प्राण की गति अत्यन्त वेगयुक्त हो जाती है।

तमःप्रधान प्राण का कार्य —निद्रा, आलस्य, तन्द्रा, जड़ता, मूढ़ता तथा शून्य समाधि तमःप्रधान प्राण के प्रसारण का फल है। इन अवस्थाओं में तमःप्रधान प्राण का प्रवाह बना रहता है। प्रगाढ़ निद्रा में इसकी गति प्रायः एक समान रहती है। प्राण की गति जीवनपर्यन्त रुकती नहीं। परिस्थिति के अनुसार मन्द, तीव्र अथवा

१. "महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति"॥ कठ० २ वल्ली मन्त्र २२

तीव्रतम होती रहती है। तामस् अवस्था में प्राण की गति समानरूप से प्रवाहित रहती है। इस अवस्था में विशेष ज्ञान का अभाव रहता है। आलस्य के समय शरीर में भारीपन आ जाता है और कार्य करने की क्षमता नहीं रहती तथा प्राण में भी जड़ता सी आ जाती है। तन्द्राकाल में शरीर में झटके से लगते रहते हैं और प्राण की गति में भी अन्तर आ जाता है। शेष समय में अर्धनिद्रा या स्वप्नावस्था जैसी स्थिति होती है। इन सब परिस्थितियों में प्राण की तामसिक अवस्था रहती है। जड़ता में बुद्धि की मन्दता, शरीर में कर्म की इच्छा का अभाव और भारीपन रहता है। एवं प्राण में भी भार प्रतीत होने लगता है। शून्यसमाधि की प्रारम्भिक अवस्था में प्राण तम की दशा में रहता है परन्तु शनैः-शनैः वह जड़त्व में परिणत हो जाता है, क्योंकि शून्यसमाधि निद्रा और मूर्च्छा से गहन रहती है। निद्रा मे भी गुणों का यत्किंचित् परिवर्तन होता रहता है। क्योंकि निद्रा की भी सात्विक, राजस् और तामस् अवस्थायें होती हैं। शून्यसमाधि में केवल तामस् प्राण में परिणामक्रम चलता है और अन्त में ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्राण जम सा गया हो और उसमें जड़ता आ गयी हो। हाथ पैर आदि शरीर के अंग-प्रत्यंग जड़वत् पत्थर की तरह कठोर हो जाते हैं। पर्याप्त काल के अनन्तर हाथ, पैर तथा अंग-प्रत्यंगों में चेष्टा की अनुभूति होती है। इस से यह सिद्ध होता है कि शून्यसमाधि के अन्तर्गत प्राण का सात्विक व राजसिक कार्य नहीं रहता, केवल तामसिक स्थिति बनी रहती है। यह अवस्था निद्रा, तन्द्रा तथा मूर्च्छा से कुछ विचित्र होती है। एक प्रकार से यह बिल्कुल बोध रहित अवस्था सी होती है। इसकी सम्पुष्टि में एक प्रत्यक्ष घटना प्रस्तुत की जाती है। जब हम पहलगाँव में इस ग्रन्थ को लिख रहे थे उन दिनों तारीख १६-७-७७ को हमारी एक शिष्या कुमारी ललिता और उसकी बहिन कुमारी अरूणा भी हमारे ध्यान शिविर में अभ्यास करती थीं। ये दोनों बहिनें दक्षिण-भारत के कर्नाटक प्रान्त के बंगलौर नगर की निवासिनी हैं। दोनों बहनें तीन वर्ष से हमारे संरक्षण तथा पथ-प्रदर्शन में योगाभ्यास में संलग्न हैं। दोनों ही हमारी शिष्यायें हैं। छोटी बहिन ललिता है। उसकी आयु २० साल है। बड़ी बहिन का नाम अरूणा है। ब्राह्मण कुलोत्पन्ना साधिकायें हैं। कुमारी ललिता ने ३ वर्ष में बहुत प्रगतिशील अभ्यास किया है। उपरोक्त तिथि में ललिता १२ घंटे तक समाधिस्थ रही। उस समय योग निकेतन पहलगाँव में ३० अभ्यासी निवास कर रहे थे। समाधिस्थ देवी पर प्रायः सभी अभ्यासियों की आश्चर्ययुक्त दृष्टि थी। वह मैदान में एक वृक्ष के नीचे बैठी हुई थी। किसी ने भी उसके शरीर में कोई चेष्टा नहीं देखी। सायंकाल ६ बजे उसने समाधि से उठने का संकल्प किया था। हमारे प्रधान शिष्यों में से श्री नारायण दास कपूर

एवं उनकी पत्नि श्रीमती सावित्री देवी और ललिता की बड़ी बहिन अरूणा उसकी समाधि खुलवाने के लिये गए। सब आश्रमवासी इस दृश्य को बड़े चाव से देख रहे थे। प्रातःकाल उसके शरीर पर धूप पड़ती रही थी। मध्याह्न के पश्चात् थोड़ी-थोड़ी वर्षा भी होती रही जिससे उसके कपड़े भी भीग गये थे। वर्षा से बचाने के लिये एक कम्बल उढ़ा दिया था। परन्तु वह अडोल एवं निश्चेष्ट बैठी रही। समाधि से उठाने के समय उसके मस्तिष्क को स्पर्श किया तो बिल्कुल शीतल था और जड़ सा बना हुआ था। आँखें बन्द थीं उन्हें खोल कर देखा तो लाल-लाल अंगारों की भांति चमक रही थीं। हाथों की उंगलियां परस्पर जुड़ी हुई थीं, श्वास-प्रश्वास की गति अत्यन्त मन्द थी। नाड़ी भी नितान्त सूक्ष्मता से–शिथिलता से मन्द-मन्द चल रही थी। हाथों और पैरों को बड़ी कठिनाई से खोला गया। आधा घंटा उसे उठाने में लग गया। कुछ समय के पश्चात् हमने उससे पूछा कि इस १२ घंटे की समाधि की स्थिति में तुम्हारी दृष्टि में क्या कुछ देखने में आया ? उसने कहा "सर्वप्रथम जब आपने बिठाया और मस्तिष्क को स्पर्श किया तो कुछ शान्ति का अनुभव हुआ और शरीर में कुछ कम्पन सा होने लगा। जब आपने सिर को थपथपाया तो कम्पन समाप्त हो गया और प्राण के झटके भी समाप्त हो गये। जो प्राण खिंचकर सुकड़ से रहे थे वे भी ठीक हो गये। इसके पश्चात् ब्रह्मरन्ध्र में नानाप्रकार की अलौकिक विविध ज्योतियों का साक्षात्कार होने लगा। विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म दृश्य सामने आने लगे। उन दृश्यों को देख कर महान् हर्ष हुआ। इसके उपरान्त हृदय प्रदेश में पहुंची। वहां भी कुछ दिव्य या अलौकिक पदार्थों की अनुभूति होने लगी। इसके पश्चात् दिव्यज्ञान का प्रकाश हुआ, मैं उसमें विलीन सी हो गयी और तद्रूप सी बन गयी। इसके बाद मुझे किसी प्रकार के ज्ञान का भान न रहा और अपने आप को भी भूल सी गयी। उसके पश्चात् मुझे कुछ भी पता न रहा। अभी-अभी जब आप मेरे शिर को थपथपा रहे थे तब पता लगा कि समय समाप्त हो गया।" इस पर हमने उससे पूछा कि क्या तुम अनुमान लगा सकती हो कि तुम्हें कितने घंटे तक ज्ञान होता रहा और कितने घंटे तक शून्य या निर्विकल्प अवस्था रही ? उसने कहा कि मुझे लगभग तीन चार घंटे तक ज्ञान होता रहा होगा और आठ घंटे शून्यता में बीते होंगे। यह साधिका लगभग १२ घंटे तक समाधिस्थ रही। इस अवस्था में यदि प्राण का विशेष कार्य होता तो इस प्रकार की जड़ता व शून्यता न आती। युवावस्था में मैं भी कई-कई दिन इस प्रकार की शून्य समाधि का अभ्यास करता रहा था। जब शून्य समाधि से व्युत्थान होता है तब शरीर पत्थर की तरह भारी हो जाता है। जमा हुआ आसन खोलने पर भी नहीं खुलता। हाथ, पैर एवं शरीर अकड़ जाते हैं।

परस्पर गुथी हुई उंगलियां भी शीघ्र नहीं खुलतीं। यदि कुछ घंटे की ऐसी समाधि लगती है तो कम से कम कुछ मिनट आसन खोलने और सावधान होने में लग जाते हैं। जब दो-चार दिन की समाधि लगी होती है तो एक घंटे से अधिक समय आसनादि खोलने और पूर्ववत् सावधान होने में लगा करता है। इतनी शून्यता और जड़ता का कारण तमःप्रधान प्राण ही होता है। प्राण की गति अत्यन्त मन्द हो जाती है, इसलिये शास्त्रों में इसे "स्थितिशीलं तमः" कहा गया है।

स्थूल शरीर में समान-प्राण का व्यापार—समान प्राण भी सात्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीन प्रकार का होता है। इसका कार्य हृदय से नाभि तक विस्तृत रहता है। उदर इसका निवास स्थान है। यह विभिन्न प्रकार के कार्य करता है, इस स्थल में ६ प्रधान ग्रन्थियां कार्य करती हैं—यकृत, आमाशय, पक्वाशय, प्लीहा, छोटी आंत, बड़ी आंत। इन ग्रन्थियों के कार्य का वर्णन हमने "आत्म-विज्ञान" ग्रन्थ के अन्नमय कोष में कर दिया है—पाठक वहां देख लें। जैसे विद्युत काञ्च के बल्ब में रोशनी देती है, पंखे को गति देती है, कपड़े बुनने की मशीनों को चलाती है और रेडियो और टेलीविजन के द्वारा शब्द सुनाती है, कारखानों में बड़ी-बड़ी मशीनों को धक्के देकर चलाती है तथा अन्य प्रकार के असंख्य कार्य विद्युत के द्वारा किये जाते हैं। इन सबमें विद्युत की ही प्रधानता होती है, इसी प्रकार समान प्राण एक होते हुए भी विभिन्न ग्रन्थियों में विभिन्न कार्य करता है। समान प्राण यदि अपना कार्य करना बन्द कर दे तो ये सब ग्रन्थियां कुछ भी नहीं कर सकतीं। सब ही निरर्थक हो जाएं। शरीर को जीवन व स्वास्थ्य पोषक अन्नमय आधार समान वायु के द्वारा ही प्राप्त होता रहता है। इसके द्वारा ही सब ग्रन्थियां गतिशील होकर अपना-अपना कार्य करती हैं। समान प्राण के साथ अग्नि से उत्पन्न हुआ तेज और जल से उत्पन्न हुआ रस भी मिलकर सब धातुओं में पाक और रसों का उत्पादन करते हैं। उसमें समान प्राण की ही विशेषता है। उसके द्वारा ही यह ग्रन्थियां कार्यशील होकर अपना-अपना कार्य करती हैं। इन ग्रन्थियों द्वारा निर्माण हुए पदार्थ को समान प्राण विभक्त करके समानरूप से शरीर के भागों में पहुंचाता है। इसके द्वारा शरीर का पोषण, संवर्धन, रक्षण एवं जीवनी शक्ति का संचार होता है। इन ६ ग्रन्थियों के मुख्य-मुख्य कार्य और प्रकार संक्षेप से इस प्रकार हैं—

यकृत—यह पेट के ऊपरी भाग में दायीं ओर पसलियों के नीचे आमाशय के साथ मिली हुई ग्रन्थि हैं। मधुर रस बनाती हैं। इस रस के द्वारा देह का पोषण होता है और उसे अपने अधिकार में भी रखती है। अम्ल और यूरिया इसी में

बनते हैं। रक्त के दोषों को तथा अन्न से उत्पन्न होने वाले विकारों व विषों को शुद्ध करती है। इसमें बनने वाला पाचक रस जो पित्त के रूप में होता है यह हरे से रंग का और क्षारयुक्त होता है। इसमें कई प्रकार के नमक मिले होते हैं। यह क्षारयुक्त रस पक्वाशय में जाकर अन्न को पुनः पाक करके पतला द्रव बना देता है। यह अन्न को सड़ने नहीं देता न खट्टा होने देता है। अन्यथा स्निग्ध पदार्थों का परिपाक ही न हो और वे वैसे ही बिना पचे निकल जायें। यकृत के दक्षिण और वामपार्श्व में पित्त को प्रवाहित करने वाली दो नसें या नलिकायें लगी होती हैं। यह आमाशय और पक्वाशय में पित्त को ले जाती हैं। वहां पहुंच कर पित्त परिपाक कार्य में सहायक होता है। यह जठराग्नि को तीव्र-प्रबल बनाता है तथा अन्न को पचाने या पीसने में सहायक होता है। यह ग्रन्थि पौने दो सेर के लगभग होती है। यह शरीर में भूरे रंग की सबसे बड़ी ग्रन्थि है।

आमाशय ग्रन्थि—इस ग्रन्थि को पाकस्थली भी कहते हैं। यह मशक के आकार की होती है। उदर के वामपार्श्व में वक्षस्थल के नीचे तथा फेफड़ों और हृदय के बीच में होती है। इसका बायां भाग चौड़ा और दायां भाग नोकदार होता है। इसकी लम्बाई एक फुट और चौड़ाई चार इंच होती है। इसमें दो मुख होते हैं—एक ऊपर और एक नीचे। ऊपर के मुख से भोजन अन्दर को जाता है और नीचे के मुख से पचकर निकलता है। डेढ़ या दो सेर के लगभग खाद्य व पेय पदार्थ इसमें आ जाते हैं। जब यहां से पचा हुआ भोजन नीचे को जाता है तब आमाशय का मुख खुल जाता है और इसके बाद स्वयं ही बन्द भी हो जाता है। आमाशय में भी खट्टा रस बनता है। इसमें अन्य क्षार भी होते हैं। यही आमाशय में भोजन को पचाते हैं। इसमें ५–६ घंटे भोजन रहता है। यह रस दूध को फाड़ देता है। तले हुए पदार्थों को तथा घृत से बनी मिठाइयों को देर से पचा पाते हैं। यह आहार पचकर तरल होकर पक्वाशय में चला जाता है।

पक्वाशय ग्रन्थि—यह ग्रन्थि आमाशय के नीचे जुड़ी हुई है, यह १० इंच लम्बी और अर्धचन्द्राकार होती है। इसे पक्वाशय कहते हैं। जब अन्न पक्वाशय में पिसकर और पाचन होकर इसमें आता है तब यकृत से पित्त एवं प्लीहा से क्षार-रस नाड़ियों द्वारा आकर इसमें मिलता है जिससे वे सब भिन्न-भिन्न प्रकार के रसों को बनाने में सहायक होते हैं। यहां से हृदय और आंतों में रसों का विभाग होकर ऊपर और नीचे की ग्रन्थियों में पहुंचता है। प्लीहा, हृदय और आंतें इससे अपना आहार ग्रहण करके क्षार, रस, रक्त, मूत्र, मल आदि बनाते हैं। प्लीहा, तिल्ली और क्लोम ग्रन्थि को 'पैंक्रियस' (Pancreas) भी कहते हैं। यह ग्रन्थि उदर के पृष्ठ भाग में बांई ओर हृदय के नीचे पिस्तौल के आकार की होती है। इसमें जो क्षार-रस बनता है वह पक्वाशय

में पहुंच कर पाचन का विशेष कार्य करता है। रक्त और मूत्र के निर्माण में मुख्य रूप से सहायक बनता है। इसीलिये रक्त का स्वाद भी नमकीन होता है और मूत्र भी क्षारयुक्त अथवा नमकीन सा होता है। मूत्र से कई प्रकार के रोगों का निवारण होता है।

क्षुद्र आंत अथवा छोटी आंत—इस ग्रन्थि का ऊपर का भाग पक्वाशय से जुड़ा रहता है। यह आंत पक्वाशय से आहार ग्रहण करके रसों का निर्माण व विभाग करती है। जब भोजन आमाशय तथा पक्वाशय से पचकर इसमें पहुंचता है तब उसको और अधिक पकाकर उसका विभाजन करती है। इसमें ५–६ घंटे लग जाते हैं। यह रस के कुछ भाग को हृदय की ओर भेजती है और कुछ मूत्राशय की ओर। शेष मोटा भाग बड़ी आंत की ओर फेंक देती है जो शनैः-शनैः ६ घंटे में मल बनकर गुदाद्वार से बाहर निकल जाता है। ये दोनों कार्य प्राण, समान और अपान मिलकर करते हैं। इन दोनों आंतों के कार्यक्षेत्र मिले-जुले हैं।

समान—समान प्राण का अन्य प्राणों से भेद हो जाता है। अतः यहां समान प्राण का प्रत्यक्ष करना चाहिये। इसके अन्तिम भाग से बड़ी आंत का प्रारम्भ हो जाता है।

बृहत् आंत—छोटी आंत से आये हुए स्थूल मोटे भाग को बड़ी आंत ग्रहण करके शनैः-शनैः अन्न को पचाने के पश्चात् शेष भाग को ६ घंटे में मल के रूप में परिणत करके बाहर निकालती है। इसमें भी कुछ तरल भाग निकल कर मूत्राशय के भाग में सम्मिलित हो जाता है। इस ग्रन्थि के दूषित या बिकृत हो जाने पर मलबद्धता या मल का पतला होना अथवा गुदा सम्बन्धी कई बीमारियां हो जाती हैं। इस ग्रन्थि का सम्बन्ध प्रारम्भ में छोटी आंत के साथ होता है ओर इसका अन्त गुदेन्द्रिय में पहुंचकर हो जाता है। ऊपर की ६ ग्रन्थियों के साथ हृदय ग्रन्थि का भी सम्बन्ध है। परन्तु इसका विशेष सम्बन्ध प्राण के साथ होने के कारण हृदयस्थ प्राण के साथ इसका उल्लेख किया गया है। इन ६ ग्रन्थियों में विशेष कार्य समान प्राण का ही होता है। इसके बिना इनका कुछ कार्य नहीं हो सकता। खाद्य पेय आदि सब पदार्थों के सार को यही सर्वत्र शरीर में विभक्त करता है। सभी खाद्य पेय पदार्थों के सार को यह समान प्राण ही सर्व ग्रन्थियों में विभक्त करता है, तथा ऊपर व नीचे के समान प्राण मिलकर सब प्रकार से जीवन का निर्माण और रक्षण करते हैं। इन्हीं के द्वारा सर्वत्र आहार पहुंचाया जाता है। ये दोनों ही जीवन का संगठन करते हैं और दोनों की सन्धि में ही जीवनी शक्ति

है। समान प्राण अपने आश्रित ग्रन्थियों की सहायता से कई प्रकार के रसों का निर्माण करता है। सारे शरीर को जीवित रखने के लिये रसों को प्रदान करता है। वायु, अग्नि, जल आदि जिनका सेवन हम मुख नासिका आदि से करते हैं इन सबको ग्रहण करके अपनी सम्बन्धित ग्रन्थियों द्वारा उनका सारतत्त्व लेकर सम्पूर्ण शरीर में विभक्त कर देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो यही सारे शरीर के जीवन का आधार हो। यदि यहां से शरीर को पोषक खुराक न पहुंचे तो थोड़े ही काल में मृत्यु हो जाय। यह विशेषता समान प्राण की है। यह यकृत में क्षार का निर्माण करता है, आमाशय में खाद्य तथा पेय पदार्थों को मिलाकर पीसता और तरल बनाता है एवं पक्वाशय में परिपाक करता और पुनः वहां से उन्हें रस और मल के रूप में परिणत करके छोटी आंत और बड़ी आंत को बांट देता है।

(१) **सत्त्वप्रधान समान प्राण**— जागृत अवस्था में इन्द्रियों तथा मन आदि के क्षोभों के बिना समान प्राण का जो कार्य होता है अथवा जब तक ये ग्रन्थियां निर्विकार रहती हैं तब तक समान प्राण की सत्त्विक अवस्था रहती है और सब ग्रन्थियां सामान्यरूप में अपना सब कार्य करती रहती हैं। समान अपने सत्त्वप्रधान काल में सविकल्प, निर्विकल्प, सविचार, निर्विचार स्थितियुक्त सम्प्रज्ञात आदि समाधियों की अवस्था में तत्त्वज्ञान का हेतु होता है। उस समय प्राण में कोई क्षोभ नहीं होता; सब ग्रन्थियां अपना कार्य ठीक-ठीक करती रहती हैं। समाधिकाल में प्राण का क्षोभ विघ्न का हेतु होता है। विविध दुःख, शरीर का कम्पन, इच्छा का व्याघात, तथा स्वास्थ्य की विषमता आदि समाधि के लिये विक्षेप तथा बाधक होते है।[1] श्वास-प्रश्वास का गमनागमन विशेषतः नाभि तक ही होता है। यह श्वास का विक्षेप समान प्राण को भी विक्षुब्ध कर देता है। यह समस्त विक्षेप समाधिकाल में शान्त हो जाते हैं, क्योंकि इस काल में ज्ञान की प्रधानता होती है। समान प्राण के सात्त्विक बने रहने पर मन तथा इन्द्रियाँ भी अपना कार्य ठीक करती हैं। जब साधक अभ्यास में प्रवृत्त होकर साधना के समय ध्यान में प्रवेश करता है तब समान प्राण सात्त्विक हो जाता है; क्योंकि अन्तःकरण का सम्बन्ध प्राणों के साथ होता है। ध्यान की गहराई में पहुंच कर इन्द्रियें, मन और बुद्धि अपने व्यापार बन्द कर देते हैं। उस काल में समान प्राण की गति भी बन्द हो जाती है। एक प्रकार से इस अज्ञात सी अवस्था में रहकर वह अपना सामान्य सात्त्विक कार्य करता रहता है क्योंकि इसके आधीन ग्रन्थियां भी अपने व्यापार को बन्द नहीं करतीं। ये ग्रन्थियां जागृत, स्वप्न, निद्रा तथा समाधि की अवस्था में अपना

(१) दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ योग दर्शन० १-३१ ॥

कार्य करती रहती हैं। चेतन आत्मा का सन्निधान समान प्राण से कार्य कराता रहता है। योगी को इस कार्य का भान न भी रहे तो भी समान का व्यापार होता रहता है। जब समाधिस्थ योगी समान प्राण को अपनी समाधि का विषय बनाता है तब अपनी दिव्य दृष्टि से समान और उसके कार्यों को प्रत्यक्ष देखता है। इसके साथ जुड़ा हुआ प्राण और अपान का सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष का विषय बन जाता है। सम्पूर्ण शरीर में प्राण व्याप्त है। परन्तु शरीर के जितने भी प्रधान अवयव या अंग हैं उनके अलग-अलग होने से प्राण में भी भेद हो जाता है। इन अंग प्रत्यंगों के कार्य भिन्न-भिन्न हैं। इनमें रहने से प्राण और उसके कार्य का भेद और अभेद माना गया है। शरीर के अवयवों के भेद से प्राण का भी भेद हो जाता है क्योंकि इन सबके कार्य भिन्न-भिन्न हैं। जैसे पृथ्वी का प्रधान गुण गन्ध है परन्तु पृथ्वी से अनेक पदार्थ और हजारों प्रकार के फूल उत्पन्न होते हैं। उन सबकी अलग-अलग गन्ध है। इसी प्रकार प्राण के भी भेद हो गये हैं और एक होते हुए भी यह अनेकत्व को प्राप्त हो जाता है। उन अनेकों में ही एक यह सत्त्वप्रधान समान है जो हृदय से नाभिपर्यन्त क्षेत्र में कार्य करता है। एक प्रकार से हृदय और नाभि को इसकी दीवारें समझा जाए।

(२) रजःप्रधान समान प्राण—जब इन्द्रियों और अन्तःकरण में काम, क्रोध, लोभ, मोह-ममता, राग-द्वेष, द्रोह, भयादि पैदा होते हैं तब प्राण भी रजोगुण से भरपूर होकर अनेक प्रकार के रजोगुणी कार्य करने लगता है। इसके आश्रय में रहने वाली सब ग्रन्थियां भी अस्त-व्यस्त होकर विपरीत कार्य करने लगती हैं और मनुष्य का जीवन भी दुःखमय हो जाता है। काम इसे संतप्त करके अनेक प्रकार की बीमारियां पैदा कर देता है। मानुषीय शक्तियों का शोषण करके मनुष्य को शक्ति-हीन बना देता है। जागृत अवस्था में युवक और युवतियों में काम का वेग प्रचण्ड होकर उन्हें उन्मत्त सा बना देता है। ऐसी दशा में यकृत में विकार हो जाने से पीलिया आदि अनेक बीमारियां हो जाया करती हैं। आमाशय भी अपना काम ठीक नहीं करता। पक्वाशय की पाचन शक्ति क्षीण हो जाया करती है। रसों का निर्माण ठीक नहीं होता। भूख वन्द हो जाती है। कब्ज रहने लगता है या दस्त आने लगते हैं। रक्त बनना भी कम हो जाता है। वीर्य का क्षय होकर शरीर की कान्ति और तेज नष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में वीर्य का निर्माण भी अधिक होता है और क्षय भी अधिक होता है। जव वीर्य अधिक व्यय होता है तो दूसरे धातु कम और वीर्य अधिक बनने लगता है। और जव दूसरे रक्त आदि धातु कम बनते हैं तब वीर्य भी कम बनने लगता है और शरीर में क्षीणता और दुर्बलता आने लगती है। समान प्राण के उत्तेजित

होने से भी उसमें रजोगुण की अत्यन्त प्रधानता हो जाती है और रस-रुधिर आदि का शोषण होने लगता है। सब ग्रन्थियों में दुर्बलता तथा क्षीणता आ जाने से मृत्यु का कारण भी बन जाता है। इसी प्रकार क्रोध समान प्राण को क्षुब्ध कर देता है। इसकी गति ग्रन्थियों की धड़कन में वृद्धि कर देती है। हृदय और मस्तिष्क में अनेक विकार हो जाया करते हैं और विभिन्न प्रकार के रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। अन्तःकरण के साथ प्राण का विशेष सन्बन्ध होने से इन विकारों का प्रभाव प्राण पर भी पड़ता है। इससे प्राण कुपित हो उठता है। हृदय के अनेक रोग रक्त-चाप, मधु-मेह आदि उत्पन्न हो जाते हैं। समान प्राण उन ग्रन्थियों में व्याप्त रहता है। ग्रन्थियों के रुग्ण या विकृत हो जाने पर प्राण और समान भी विकृत हो जाते हैं। समान प्राण के विकृत हो जाने पर रजोगुण बढ़ जाता है। और अनेक रोगों की उत्पत्ति का कारण बनता है। मन भी विचलित और चिन्तित रहने लगता है। अतः संयमी योगी को रजोगुण की मात्रा में वृद्धि नहीं होने देनी चाहिए। आहार, व्यवहार, कर्म और व्यापार को युक्त और सन्तुलित अनुपात में रख कर समान प्राण में समता बनाये रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। "मनुष्य का आहार तथा व्यवहार सात्त्विक होने से जीवन में समता और सात्त्विकता आती है। जो निष्काम भावना से कार्य करता है, सोने तथा जागने में संयम बरतता है, वही पूर्ण योगी बन सकता है और उसी के लिये योग सुखप्रद होता है और वही शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरण को स्वस्थ और प्रसन्न रखने में समर्थ होता है।"[1] अतः योगी को ध्यान रखना चाहिए कि समान प्राण में रजोगुण की मात्रा में वृद्धि न हो और तीनों गुणों को समान मात्रा में बनाये रखने और सत्त्वगुण की समान प्राण में प्रबलता बनाये रखने का प्रयत्न करे। यह प्रयत्न मानव-जीवन में सुख-शान्ति का हेतु और ध्यान-समाधि के लिये उपयोगी सिद्ध होता है।

(३) तमःप्रधान समान प्राण· निद्रा की अवस्था में इसकी एक-रसता रहती है। श्वसन-क्रिया निरन्तर साम्य-स्थिति में रहती है। इसी को स्थिति कहते हैं। प्राण के सन्दर्भ में प्राण से अभिप्राय प्राण की स्थिरता से है। जीवन काल में इसकी गति का अभाव कभी नहीं हुआ है और न कभी होगा। यह अहर्निश २४ घंटे क्रियाशील बना रहता है। इसमें एक समान गति बने रहने को ही स्थिरता कहते हैं। रजोगुण के प्रभाव में यह प्रचण्ड हो उठता है। सत्त्व-गुण की अवस्था में भी इसमें एक समान तारतम्यता नहीं

१. युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त-स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ गीता अ० ६ श्लोक . १७

रहती। जागृति की अपेक्षा समाधि में इसकी गति अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है फिर शनैः-शनैः स्थूल होकर प्रथम अवस्था में आ जाती है परन्तु निद्रा और मूर्च्छा में एक समान ही रहती है। साधक को उसका भान नहीं होता परन्तु जागृति और समाधि में ऐसा भान रहता है। साधक इसकी मन्द और तीव्र गति को देखता रहता है। तम की अवस्था में इसके आश्रित कर्म करने वाली ग्रन्थियों में कुछ शिथिलता आ जाती है। और कार्य करने की क्षमता भी कम हो जाती है। आलस्य, तन्द्रा, जड़ता, मूढ़ता और अकर्मण्यता की अवस्था में समान प्राण तमःप्रधान रहता है। सत्त्व तथा राजस् अवस्थाओं में यह गौण रहता है। समान प्राण में गुणों की न्यूनता और अधिकता के अनुसार तीव्रता तथा मन्दता आ जाती है।

अपान प्राण—मानव शरीर में अपान प्राण का स्थान नाभि से लेकर गुदा पर्यन्त है। इसके सर्व कार्य प्रधानरूप से गुदा पर्यन्त और गौणरूप से पाद पर्यन्त होते हैं। मणिपुर, स्वाधिष्ठान तथा मूलाधार चक्र भी इस अपान के अन्दर वर्तमान हैं। उपस्थ और गुदा इन्द्रियां इसी अपान के आश्रित रह कर अपना कार्य करती हैं। गर्भस्थ बालक का पोषण भी इसी अपान-प्राण के द्वारा होता है। गुर्दे भी इसी अपान के द्वारा अपना कार्य करते हैं। मल-मूत्र तथा रज-वीर्य का विसर्जन भी इसी के द्वारा होता है। कुण्डलिनी शक्ति का निवास भी इसी अपान-प्राण में है। मनुष्य शरीर में अपान-प्राण का बड़ा भारी महत्त्व है। गर्भ का आधान, इसका पालन-पोषण तथा रक्षण भी यही करता है। अपान में पृथिवीतत्त्व मिला रहने से इसमें गुरुत्व धर्म आ जाता है। इसी कारण यह मल-मूत्र, रज-वीर्य और गर्भस्थ बालक का विसर्जन नीचे की ओर करता है। केवल कुण्डलिनी की शक्ति और प्राणोत्थान की गति ऊपर की ओर होती है; क्योंकि दोनों में अपान की अपेक्षा लघुत्व धर्म अधिक होता है। कुण्डलिनी शक्ति में अग्नि तत्त्वप्रधान होने से यह ऊर्ध्वगमन करती है।

प्राणोत्थान में भी सत्त्व और रजोगुण प्रधान होते हैं। इसीलिये सुषुम्णा में ज्ञान के साथ इसका भी ऊर्ध्व-गमन होता है। तथा सम्पूर्ण शरीर में प्रसरण होता है। इसी प्रकार का अनुभव व्यान तथा अन्य प्राणों के प्रसरण के समय हुआ करता है। जैसे पिपीलिका जब किसी के शरीर पर चलती है उस समय इसका स्पष्ट अनुभव होता है। अग्नि और कुण्डलिनी दोनों का निवास अपान में ही समझना चाहिये। इसी में इन दोनों शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। छोटी बड़ी आंतों के द्वार इसी अपान मे खुलते हैं। इसी के द्वारा मल-मूत्र आदि का विसर्जन होता है।

प्राणोत्थान सब पदार्थों के स्पर्श का विषय भी हो सकता है और उसके द्वारा उनको स्पर्श करके अनुभव किया जा सकता है। रूपवान् पदार्थ नेत्र का, स्पर्शवान् पदार्थ स्पर्शेन्द्रिय के विषय होते हैं। परन्तु आत्मा और परमात्मा तो दर्शन और स्पर्श का विषय नहीं बनते तब उनका स्पर्श कैसे होगा ? ये दोनों अतीन्द्रिय हैं। इनका प्रत्यक्ष बुद्धि और चित्त में होगा। बुद्धि और चित्त में अतीन्द्रिय पदार्थों के साक्षात्कार करने की योग्यता है। उदाहरण-रूप में सुख-शान्ति तथा आनन्द किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं किये जा सकते। इनका प्रत्यक्ष बुद्धि तथा चित्त के द्वारा ही होगा। आज तक कोई भी शान्ति और आनन्द के रूप को नहीं बता सका। परन्तु उसे शान्ति और आनन्द का अनुभव अवश्य होता है। वह वाणी का विषय नहीं अनुभूति का विषय बनता है। इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा भी अन्तःकरण की अनुभूति का विषय बनेंगे। योगी इसे अनुभव करता है किन्तु वाणी से व्यक्त नहीं कर सकता। "यह अलौकिक आनन्द वर्णनातीत है। आत्मा और परमात्मा अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, वे बुद्धि और चित्त के प्रत्यक्ष का विषय बनेंगे। पदार्थ होने से आत्मा का कुछ न कुछ रूप मानना होगा और वह बुद्धि में प्रत्यक्ष होगा।"[1] परन्तु स्पर्शानुभूति प्राण द्वारा ही होगी। अपान प्राण की सत्त्वप्रधान अवस्था के द्वारा योगी समाधि में प्राणोत्थान का प्रत्यक्ष करता है। यह कर्म व्यान प्राण के द्वारा होता है। अपान प्राण को समाधि का विषय बनाकर पुनः अभ्यास द्वारा उस पर ठोकरें लगाई जाती हैं फिर ताड़ना से अपान प्राण प्रताड़ित होकर व्यान को जागृत कर देता है जिससे उसकी ऊर्ध्वगति हो जाती है।

(१) **सत्त्वप्रधान अपान**—जागृत अवस्था में प्रयत्न द्वारा जब समाधि की अवस्था प्राप्त होती है, उस समय अपान सत्त्वप्रधान होता है। उसी अवस्था में चक्रविज्ञान आरम्भ होता है और उस अवस्था में अपान शान्त-भाव से कार्य करता है और चक्र-विज्ञान भी होता रहता है। उस समय सात्त्विक ज्ञान होता है। मूलाधार में कुण्डलिनी-जागरण और प्राणोत्थान में अपान ही सहायक होता है। सम्पूर्ण शरीर में तो प्राण से गति होती है परन्तु मूलाधार में अपान-प्राण से गति होती है। प्राणोत्थान की अनुभूति भी इस अपान के प्रदेश में होती है। व्यान प्राण को शरीर में सर्वत्र

---

१. समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशीतस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा, स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥
—मैत्रायणी उपनिषद् प्रपा० ४, मं० ६

विचरने वाला माना गया है। जब योगी समाधिस्थ अवस्था में प्राणोत्थान करना चाहता है तब व्यान ही विशेषरूप में गतिशील होकर ऊर्ध्व-गमन करता हुआ प्रतीत होता है और सुषुम्णा को स्पर्श करता हुआ मस्तिष्क तक पहुंचता है और शरीर में विचरण करता हुआ ज्ञान का भी संचार करता है। कण्ठ में सुषुम्णा के दो भाग हो जाते हैं। एक वृहत् मस्तिष्क में और दूसरा लघु मस्तिष्क में पहुंचता है। तब लघु-मस्तिष्क में भी प्राण के स्पर्श की अनुभूति होने लगती है। इसकी गति का पता लगने पर लघु-मस्तिष्क में इसकी अनुभूति होने लगती है। इसका पुनः-पुनः गमनागमन सुषुम्णा या रीढ़ की हड्डी के साथ-साथ सारे शरीर में होता रहता है। उस समय योगी को इसके स्पर्श की सुखद अनुभूति होने लगती है। जैसे ज्योति द्वारा पदार्थों के रूप का साक्षात्कार होता है उसी प्रकार प्राण के द्वारा योगी पदार्थ का साक्षात्कार स्पर्श-ज्ञान द्वारा करता है। रूप को नेत्र का विषय माना है और प्रायः सभी पदार्थ रूपवान् हैं। उनके रूप को देख कर ही तो हम उनका प्रत्यक्ष करते हैं, इसी प्रकार योगी को व्यान का गमनागमन स्पर्श से अनुभव होने लगता है और उससे उसे शान्ति और आनन्द की अनुभूति होने लगती है। शरीर के जिन प्रदेशों, नस-नाड़ियों या ग्रन्थियों आदि को स्पर्श करता हुआ व्यान ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचकर बार-बार टकराता है, उससे योगी को सुखद स्पर्श की अपार अनुभूति होने लगती है और उसे उत्तरोत्तर अधिक आनन्द आने लगता है। प्राणोत्थान की यह प्रक्रिया अपान प्राण के द्वारा मूलाधार में होती है। इसका अनुभव समाधि की अवस्था में ही होता है। इसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति की अनुभूति भी अपान के केन्द्र में ही होती है। इसे अपान ही जागृत करता है। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या यह कोई अग्नि है जो अपान के स्थान में दबी पड़ी है अथवा यह शक्ति अपान से उत्पन्न होती है। योगियों के मतानुसार यह ज्योति है जिसका उपादान कारण अग्नि ही है। अब फिर प्रश्न उठता है कि यह अग्नि कहां से आई जिसे अपान जागत करता है ?

जैसे ५ प्राणों में अपान प्राण की गणना है उसी प्रकार अग्नि-महाभूत शरीर की रचना में सहकारी उपादान कारण बनता है। यह भी शरीर में दस प्रकार के प्राणों की तरह दस प्रकार का हो गया है। इन दस प्रकार की अग्नियों में एक अग्नि मूलाधार में वर्तमान है, जिसे अपान प्राण के स्थान में, मूलाधार में विसर्जक नाम की अग्नि कहा जाता है। जब योगी मूलाधार में निरन्तर अभ्यास करता है तव अपान वायु के साथ मन की टक्कर लगने से विसर्जक अग्नि जागृत हो जाती है। यह विसर्जक अग्नि मूलाधार से लेकर पादतल तक कार्य करती है। अपान प्राण भी नाभि से लेकर पादतल तक काय करता है। मूलाधार में यही विसर्जक अग्नि कुण्डलिनी के रूप में

जागृत हो जाती है और व्यान प्राण के साथ गमन करने लगती है और सब चक्रों को प्रकाशित कर देती है। इस अपान-प्राण में दो प्रकार की अग्नियां काम करती हैं। उनका काम विभाजन और पोषण है। ये दो अग्नियां अपान के स्थान में कार्यरत हैं। यदि कुण्डलिनी शक्ति को अग्नि-भूत का कार्य मानें तो अग्नि-भूत इसका उपादान कारण होना चाहिये। क्या यह कुण्डलिनी शक्ति कोई और पदार्थ या वस्तु है जिसे हम नहीं जानते ? क्योंकि स्थूल शरीर का उपादान कारण तो पञ्च-भूत हैं। शरीर में इन पञ्च-भूतों में से एक अग्नि को कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। वैसे तो पञ्च-भौतिक शरीर में मन, बुद्धि, इन्द्रियां आदि और भी कई पदार्थ हैं परन्तु उनका उपादान कारण तो हम अहंकार और महत्तत्त्व को मानते हैं। अग्नि भूत से भिन्न कुण्डलिनी शक्ति का उपादान कारण समझ में नहीं आता। 'कुण्डलिनी शक्ति प्रकृति की आद्या शक्ति है'—यदि इस मत को स्वीकार किया जाय तो सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत् में भी इसका उल्लेख होना चाहिए था। सूक्ष्म शरीर और स्वर्गलोक में भी इसके विज्ञान की चर्चा होनी चाहिये थी। सूक्ष्म जगत्, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों तथा महत्तत्त्व के लोक में भी इस विज्ञान की चर्चा नहीं हुई और न उन लोकों में या किसी इतिहास, पुराण, स्मृति, दर्शन, उपनिषद् आदि ग्रन्थों में ही इसका उल्लेख हुआ है। यह बात प्रमाण, तर्क और युक्ति से भी सिद्ध नहीं होती। अतः यह कोरी कल्पना प्रतीत होती है इसलिये इसे भौतिक अग्नि का ही कार्य मानना पड़ेगा। कुण्डलिनी शक्ति का उपादान कारण अभी तक विवादग्रस्त है। कुण्डलिनी के कार्यों को तो हम भी मानते हैं और इसे दिव्य ज्योति के रूप में कहते हैं। इसमें कोई विवाद का स्थान नहीं है। उपरोक्त कथन अपान प्राण के विषय में किया गया है। यह सब विज्ञान इसी अपान प्राण के आधारस्थान में होता है। अब इसके अनन्तर रजःप्रधान अपान का वर्णन करेंगे।

(२) **रजःप्रधान अपान**—जागृत और स्वप्न की अवस्थाओं तथा अन्य विशेष स्थितियों में यह प्रचण्ड रूप धारण कर लेता है। संघर्ष और तनाव के समय में इसकी गति बड़ी भयंकर हो जाती है। क्रोध के समय में अति प्रबल हो जाता है। भय के समय मल-मूत्र त्यागने लग जाता है। ब्रह्मचर्य पालन करने के लिये अपान प्राण पर अधिकार पाना परम आवश्यक है क्योंकि इसके कारण कामोपभोग में रजोगुण विशेषता से बढ़ जाता है, और मनुष्य वासना विशेष में प्रवृत्त हो जाता है। जैसे पहले कह चुके हैं कि गर्भस्थ बालक का पोषण भी इसी अपान के द्वारा होता है। उस काल में इसमें एक विशेष प्रक्रिया होती है। रज और वीर्य का निर्माण तथा इनका विसर्जक और मल-मूत्र का बाहर फेंकना आदि कार्य भी इसी रजोगुणी अपान के कारण होते हैं। उस समय इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की विशेष क्रियाएं होती हैं। अश्विनी-मुद्रा

चित्र संख्या २ का विवरण

पंच उपप्राणों का वर्णन

इस चित्र में पाँच प्रकार के उपप्राणों को दर्शाया गया है जिनका सम्वन्ध प्राय: कंठ से ऊपर के भाग से है। स्थूल शरीर में पाँचों उपप्राणों के सात्विक, राजस्, तामस् भेद दिखाकर १५ प्रकार के उपप्राणों का वर्णन किया है। केवल धनञ्जय प्राण को नीचे के सम्पूर्ण शरीर में नीली रेखाओं द्वारा वहते हुए दिखाया गया है। कंठ, मुख, नासिका, नेत्रों में उपप्राणों के विभिन्न रंग दिखाए गए हैं तथा उनके व्यापारों का वर्णन किया गया है।

1
2
3
4
5
1
3
2
4
5
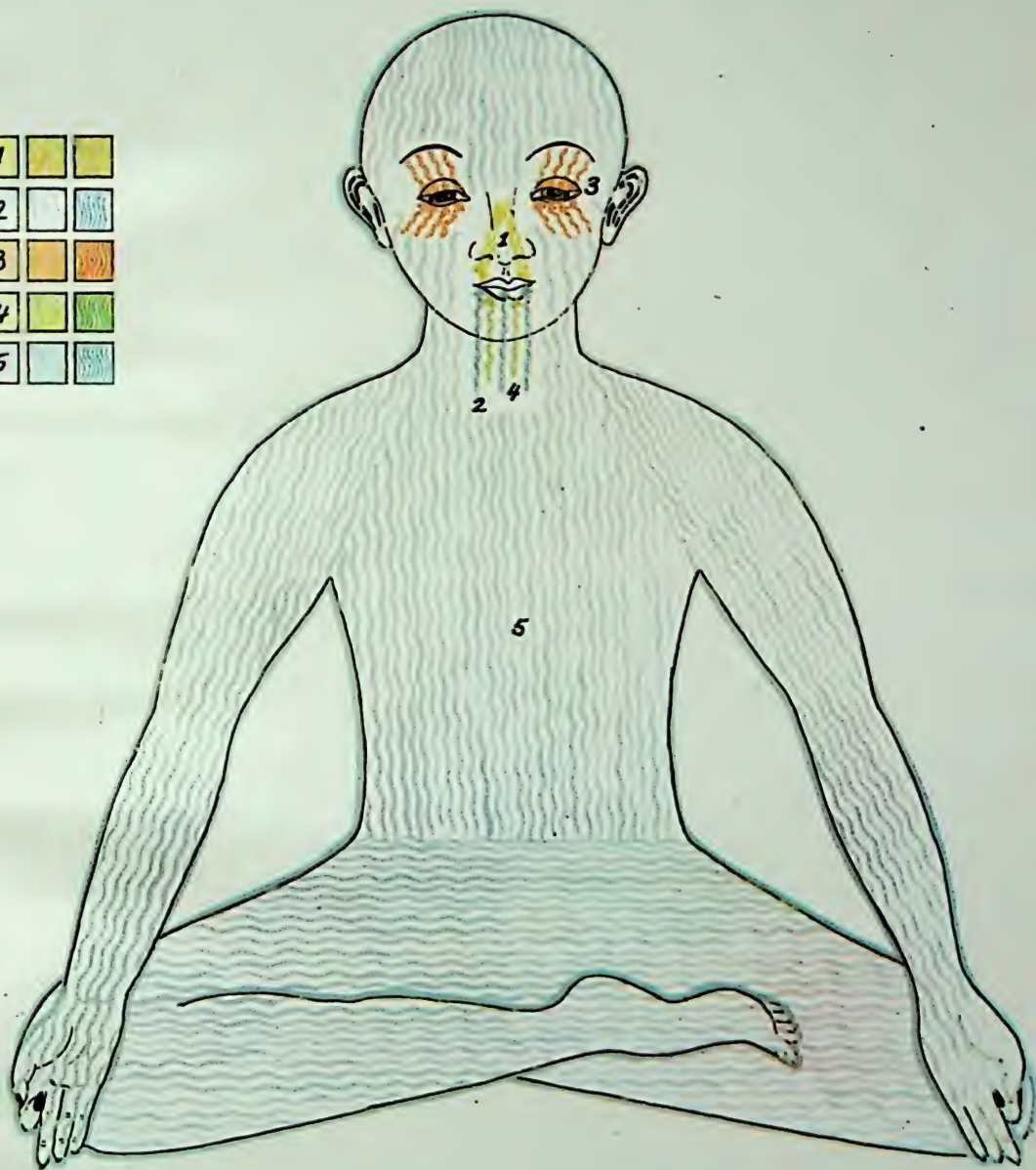
और अग्नि-प्रमारण प्राणायाम के समय इसमें विशेष प्रकार की गति होती है। ये मुद्रा और प्राणायाम, दोनों कुण्डलिनी जागरण और प्राणोत्थान में बहुत उपयोगी होते हैं। ये सब कार्य रजोगुणी अपान के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं।

(३) **तमःप्रधान अपान की प्रधानता**—निद्रा और मूर्च्छा के समय तमःप्रधान अपान प्राण अपनी गतिविधि एक समान रखता है। उस समय इसकी तारतम्यता में कोई अन्तर नहीं होता। ये इसके स्वाभाविक कार्य हैं। मल-मूत्र, रज-वीर्य और इसमें पाकज आदि कार्य अनायास ही होते रहते हैं। इसमें लगातार शान्त-प्रवाह चलता रहता है। गर्भस्थ बालक का पालन-पोषण इसके द्वारा ही होता है। इस प्रदेश में निरन्तर गति से यह अपने कार्य में संलग्न रहता है। इस काल में कोई विशेष ज्ञान नहीं होता। व्यान और उदान के कार्य भी सामान्य रहते हैं। आलस्य, मूढ़ता, जड़ता तथा शून्यसमाधि में भी उसका व्यापार होता रहता है। इन सब स्थितियों में इसकी ही प्रधानता रहती है। इसका कार्य नाभि से गुदा पर्यन्त तथा पादतल तक होता रहता है। इसके विकृत होने पर गुर्दों, आंतों, गर्भाशय, एवं गुदा सम्बन्धी अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाया करते हैं।

पांचों उपप्राणों का वर्णन—धनञ्जय, नाग, कूर्म, कृकल और देवदत्त—ये पांच उपप्राण हैं। इनका कार्य कण्ठ से ऊपर होता है, केवल धनञ्जय का कार्य समस्त शरीर में होता है। ब्रह्मरन्ध्र में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से इन सब प्राणों का सम्बन्ध है। मस्तिष्क में रहकर ये पांचों प्राण अपना भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। देश के भेद से और इन्द्रियों के भेद से एक ही प्राण विभक्त होकर भिन्न-भिन्न कार्य करता है। मस्तिष्क में इसके पांच भेद हो जाते हैं। विज्ञान की दृष्टि से मस्तिष्क पूरे शरीर का आधा भाग माना जाता है। दसों इन्द्रियों के स्थान इसी में हैं। इन इन्द्रियों का संचालन और नियन्त्रण भी यहीं से होता है। उपप्राणों के समस्त कार्य इसी से होते हैं। यहां होने वाले सारे व्यापार शरीर और जीवन के लिये बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। अब इनकी क्रम-पूर्वक व्याख्या की जाती है।

धनञ्जय उपप्राण—यह सर्वदेह व्यापी है और शोथ को पैदा करने वाला है। चोट लगने से सूजन का हो जाना धनञ्जय उपप्राण का ही कार्य है। कुछ आचार्यों का मत है कि मृत्यु के उपरान्त शरीर में जो शोथ आ जाया करता है, वह भी धनञ्जय उपप्राण का ही कार्य है, क्योंकि शरीर से इस उपप्राण का गमन सबसे पीछे होता है। अब यह शंका होती है कि मृत्यु के पश्चात् जब आत्मा शरीर को छोड़ कर

चला जाता है तब यह धनञ्जय प्राण किसके आश्रित रहता है और तब मृत शरीर को यह धनञ्जय फुलाता है या बाहर का भौतिक वायु इसे फुलाता है? इसका समाधान यही हो सकता है कि शरीर की रचना के समय जब वायु-भूत सहकारी उपादान कारण के रूप में प्रवेश करता है तब शरीर के विकास के साथ प्राण का भी विकास होता है और क्रम-पूर्वक वायु प्राण-संज्ञा में परिणत हो जाता है। शरीर के अंग-प्रत्यंग के भेद से इस प्राण के भी भेद हो जाते हैं। जब समस्त इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं तब प्राण की इन्द्रियों के देश में भिन्न-भिन्न संज्ञा हो जाती है। धनञ्जय सर्वव्यापी होने से समस्त त्वचा के साथ संयुक्त होता है। शरीर के अन्दर और बाहर जहां-जहां स्पर्श की प्रतीति होती है, वहां-वहां स्पर्शेन्द्रिय रहती है और प्राण भी वर्तमान रहता है अर्थात् धनञ्जय का सम्बन्ध त्वचा से रहता है। शरीर के भीतर की मांस-पेशियों तथा नस-नाड़ियों में भी यह रहता है। क्योंकि इन सब पर स्पर्श की प्रतीति होती है। व्याधि या आघात से इनमें शोथ हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि धनञ्जय प्राण शरीर में व्याप्त है। मृत्यु-काल में समस्त प्राण और उपप्राण मृतक के शरीर से बाहर निकल जाते हैं। इसमें उपनिषद् का एक प्रमाण है :—

"याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात् प्राणाः क्रामन्त्याहो३ नेति-नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतःशेते।

—बृहदा० उप०—अ० ३, ब्रा० २, मं० ११

महाराजा जनक की सभा में 'जारत्कारव आर्त भाग' नामक ऋषि के यह पूछने पर कि जब मनुष्य मरता है तब प्राण निकल कर क्या अन्य लोक में चले जाते हैं या पुनर्जन्म धारण कर लेते हैं? तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि ऐसा नहीं होता। प्राण यहीं पर वायु में लीन हो जाते हैं और यह शरीर मृत्यु-शैय्या पर सो जाता है। मृत्यु के समय बेहोशी होने लगती है। उस समय व्यान भी अपने कार्य को बन्द करने लगता है। शरीर में ज्ञान का संचार भी नहीं रहता। स्पर्श का भान भी बन्द हो जाता है। सर्वप्रथम अपान प्राण अपने कार्य का त्याग करता है। पैर शीतल होने लगते हैं; क्योंकि पादतल तक ही व्यान कार्य करता है। यह पैरों से ही निकलता है। तब पैर शीतल और संज्ञा-हीन हो जाते हैं। अपान शरीर में सब से पीछे आता है और सब से पहले जाता है। मृत्युकाल में बहुत से व्यक्तियों की मल-मूत्र विसर्जनपूर्वक मृत्यु होती है। यह निकृष्ट मृत्यु मानी जाती है। मल-मूत्र-त्याग के पश्चात् अपान प्राण इस स्थान में अपना कार्य बन्द कर देता है। शरीर में अपान के प्रदेश में मुर्दापन, जड़ता, संज्ञाहीनता तथा शून्यता छा जाती है। परन्तु इस देश में धनञ्जय शेष रह

जाता है। यहां व्यान भी अपना कार्य बन्द कर देता है। शरीर के इस भाग की उष्णता भी समाप्त हो जाती है। अपान और तेज के रूप में जो वायु और अग्नि कार्य करते थे वे भी अपने कार्य बन्द कर देते हैं। अतः इसके पश्चात् मल-मूत्र रज-वीर्य का निःसरण ही नहीं होता और मानव देह का यह भाग मुर्दा हो जाता है। इसके पश्चात् समान प्राण का कार्य समाप्त होने लगता है। यकृत, आमाशय, प्लीहा, आंतों आदि के कार्य बन्द होने लगते हैं। रस, रुधिर, मल-मूत्र और रज-वीर्य बनने बन्द हो जाते हैं। जो व्यान इन सबको कार्य करने की शक्ति दे रहा था वह भी शान्त हो जाता है। परिणामतः तत्सम्बन्धी सभी कार्य समाप्त हो जाते हैं। व्यान भी अपना कार्य बन्द कर देता है। किसी भी प्रकार के ज्ञान या कर्म का व्यापार अब यहाँ नहीं होता। एक प्रकार से हृदयपर्यन्त जीवन-कार्य समाप्त हो जाता है। परन्तु हृदय की गति बनी रहती है। इसकी गति मरण-काल में सब से अन्त में बन्द होती है, क्योंकि ऊपर के भाग में श्वास-प्रश्वास की गति शनैः-शनैः धीमी होती जाती है। प्राण, उदान और व्यान का कार्य होता रहता है। हृदय द्वारा जब तक किंचित् भी रक्त का प्रक्षेपण होता रहता है तब तक शरीर में जीवन बना रहता है और यह कार्य नितान्त अन्त तक होता रहता हैं। इसके द्वारा रक्त और जीवन का संचार बना रहता है और शरीर को आहार भी पहुंचता रहता है। इस अवस्था में सूक्ष्म और कारण शरीरों का सम्बन्ध बना रहता है। समान के निर्गमन के पश्चात् प्राण का गमन या मरण होना चाहिए। परन्तु इसका सम्बन्ध हृदयस्थ कारण शरीर के साथ है। अतः इसका गमन कारण शरीर के गमन के पश्चात् ही होना चाहिए; क्योंकि जीवनी शक्ति हृदय में ही रहती है। जिस प्रकार प्राण और तेज का परस्पर सम्बन्ध है उसी प्रकार उदान और प्राण का भी परस्पर सम्बन्ध है। अतः प्राण को साथ लेकर उदान गमन करता है। प्राण और उदान का एक साथ बहिर्गमन होता है; क्योंकि ये दोनों ही शरीर में जीवन का मुख्य हेतु हैं। श्वसन क्रिया को प्राण और उदान मिलकर करते हैं, अतः प्राण के निकलते ही उदान भी साथ ही निकल जाता है और श्वसन क्रिया समाप्त हो जाती है। इस श्वसन क्रिया के समाप्त होने पर उपप्राणों का कार्य भी बंद हो जाता है, बेहोशी बढ़ जाती है। श्वास-प्रश्वास की गति अत्यन्त मंद हो जाती है। रक्त ऊपर जाना भी बंद हो जाता है। उस समय समीपवर्ती सम्बन्धीजन नासिका और मस्तिष्क का स्पर्श करके जांच करते हैं। मस्तिष्क ठंडा हो जाता है, श्वास-प्रश्वास की उष्णता समाप्त हो जाती है, तथा प्राणों का व्यापार सर्वथा बन्द हो जाता है। मुख द्वार से उदान के निकल जाने पर मृत्यु हो जाती है। ऐसी मृत्यु सर्वसाधारण मनुष्यों की होती है। मल-मूत्र त्याग के साथ मृत्यु तामसिक व्यक्तियों की होती है। मुख, नासिका द्वारा श्वास-प्रश्वास में घरड़-घरड़ की आवाज, श्वास का मन्द होना माना जाता है।

सात्विक पुरुषों, योगियों और तत्त्वज्ञानियों की मृत्यु इससे भिन्न प्रकार की होती है। प्राण, अपान और व्यान और उपप्राणों का कार्य बन्द होने लगता है। मस्तिष्क संज्ञा-हीन हो जाता है। सूक्ष्म शरीर भी इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि के कार्य बन्द होने पर, कारण शरीर के पास पहुंचकर उसे आच्छादित करके अपने गर्भ में धारण कर लेता है। उस समय हृदय की गति मन्द हो जाती है तथा सूक्ष्म और कारण शरीर अपने स्थूल आवरण को त्याग कर चल देते हैं। उत्तम कोटि के योगियों और तत्त्वज्ञानियों की मृत्यु उपरिलिखित विधि से होती है। इस मृत्यु के सम्बन्ध में अनेक विचारधाराएं हैं। प्रथम विचारधारा के अनुसार उपरोक्त महापुरुषों का सूक्ष्म और कारण शरीर ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करके मस्तिष्क के ऊपरी भाग से बहिर्गमन करता है। दूसरी विचारधारा के अनुसार सिर में तालु के ऊपर मृत्यु के समय एक छिद्र हो जाता है अथवा वह फट जाता है और उस द्वार से यह समस्त जीवनतत्त्व शरीर से बहिर्गमन कर जाता है। तीसरा विचार हमारा है कि हृदय प्रदेश में से सूक्ष्म और कारण शरीर एक साथ ही निकल जाते हैं। ये दोनों शरीर इतने सूक्ष्म हैं कि स्थूल शरीर का कोई प्रदेश इनके निकलने में बाधक नहीं होता। ब्रह्मरन्ध्र या हृदय से प्राणों का बहिर्गमन सर्वोत्तम माना जाता है। वास्तव में स्थूल शरीर की निस्तब्धता के पश्चात् ही सूक्ष्म शरीर का गमन माना जाता है। यह ब्रह्मरन्ध्र का परित्याग करके हृदय में कारण शरीर से मिलकर उसके साथ गमन करता है। सूक्ष्म शरीर की मृत्यु तो प्रलयकाल तक भी नहीं होती। इसका तो शरीर से गमन मात्र ही होता है। मृत्यु के समय हृदय में प्राण की अत्यन्त मन्द गति हो जाती है। प्राण सूक्ष्म और कारण शरीर के प्राणों से अनुप्राणित होता रहता है। इन्हीं कारणों से उस समय हृदय में स्थूल प्राण की कुछ गति बनी रहती है क्योंकि जीवन का संचार हृदय से ही होता है। इस काल में सब प्राण सिमट कर व्यान में प्रवेश कर जाते हैं और उस समय व्यान हृदय में रहता है। सूक्ष्म और कारण शरीर के गमन के पश्चात् तुरन्त ही व्यान की गति न्यून होती जाती है और अन्त में समाप्त हो जाती है। इस प्रकार हृदय से ही आत्मा का गमन मानना होगा। जब ब्रह्मरंध्र फट जाता है और उसमें दराड़ पड़ सकती है तब हृदय भी फट सकता है या उसमें भी दरार आ सकती है। परन्तु सूक्ष्म और कारण शरीर तथा आत्मा इतने सूक्ष्म हैं कि उनके निकलने के लिए ब्रह्मरंध्र या हृदय के फटने या दरार पड़ने की आवश्यकता नहीं है। ये तो सीधे ही निकल सकते हैं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण इनके लिए हृदय से निकल जाना कठिन बात नहीं है। इसी प्रकार सूक्ष्म और कारण शरीर तथा आत्मा का शरीर से निकलना भी कोई कठिन बात नहीं है। हमारे मन्तव्यानुसार इनका हृदय से गमन ही युक्तिसंगत है। कुछ वर्षों पूर्व लंदन के एक अस्पताल में एक मरणप्राय रोगी को परीक्षणार्थ शीशे के बक्स में रखा गया। रोगी के मरते ही बक्स में दरार पड़ गई। इस

घटना को देख कर उपस्थित सभी डाक्टरों ने यह घोषणा की थी कि कोई शक्ति उस रोगी के शरीर से शीशे के बक्स को तोड़ कर बाहिर निकली थी जिसकी फोटो नहीं ली जा सकी थी क्योंकि उसकी कोई शक्ल-सूरत नहीं थी। मृत्यु के उपरान्त जब उस मृतक को तोला गया तो तीन घंटे के अन्दर ही उसका वजन कम हो गया था। मृत्यु से पूर्व भी उसका वजन लिया गया था। जर्मन निवासी डा० रोल्फ स्विटजरलैंड में डाक्टर हैं। हमारे योग-निकेतन में कई मास तक रहे हैं। इन्होंने स्विटजरलैंड के अस्पताल में अपने अनुभव सुनाए कि वहां के अस्पताल में मरणासन्न रोगी ही अधिकतर आते हैं। "मैंने अनेक रोगियों को मरते समय देखा है। जिन कमरों में वे मरते थे उनके कमरों की खिड़कियों के द्वार अथवा गमनागमनार्थ बनाए हुए दरवाजे स्वतः ही खुल जाया करते थे। कभी-कभी शीशे भी टूट जाते थे।" उन्होंने यह भी कहा—"कई बार मैंने मृतक के ऊपर छायापुरुष को कमरे में घूमते देखा है।" उनसे पूछा गया कि क्या आपको उससे भय की अनुभूति हुई थी ? तथा क्या मृतक का छायापुरुष अन्य लोगों को भी दिखाई देता था अथवा केवल उन्हें ही दिखाई देता था ? उनसे यह भी पूछा गया कि मरते समय रोगी के श्वास-प्रश्वास की गति प्रायः कैसी रहती थी। उन्होंने उत्तर दिया कि मरणासन्न रोगियों के पास अन्य लोग भी रहते हैं अतः उन्हें स्वयं कभी किसी प्रकार के भय का अनुभव नहीं हुआ। मृतक का छायापुरुष सबको नहीं दिखाई देता लेकिन उन्होंने अवश्य कई बार देखा है। मरणासन्न रोगी के श्वास-प्रश्वास के विषय में उन्होंने बताया कि किसी-किसी के मरते समय बेहोशी की स्थिति में और मृत्यु के सन्निकट होने के अवसर पर श्वास-प्रश्वास की गति तीव्र हो जाती थी। किसी के श्वासों में से जोरदार आवाज निकलती थी और किसी-किसी के श्वास लम्बे होते थे, किसी के श्वास शान्त तथा किसी के श्वास-प्रश्वास से आवाज सुनाई देती थी और किसी-किसी के शनैः-शनैः शान्त होते जाते थे। कोई ऐसे भी होते थे जो चिल्लाते हुए प्राण त्याग करते थे। डा० रोल्फ ने बताया कि हृदय की गति बन्द होते ही श्वास-प्रश्वास की गति भी शान्त हो जाती थी। जब तक हृदय कार्य करता है तभी तक श्वासक्रिया चलती रहती है। हृदय-कार्य के बन्द होते ही प्राण भी शान्त हो जाते हैं।

मृत्यु के समय जब मुख्यप्राण हृदय में प्रविष्ट हो जाते हैं तो उपप्राण भी उनका अनुगमन करते हैं। धनञ्जय उपप्राण के व्यान में प्रवेश करते ही कोई प्राण शेष नहीं रहता। धनञ्जय तो केवल जीवनकाल में ही शोथ पैदा करता है। मरणकाल में तो इसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। मृत्यु के पश्चात् भौतिक वायु भी शरीर को फुला देता है। शरीर से इन दश प्राणों का सम्बन्ध तो जीवन-काल में ही मानना होगा।

सम्बन्धी और मस्तिष्कसम्बन्धी अनेक प्रकार की व्याधियां हो जाया करती हैं। मनुष्य सदा रोगी रहने लगता है। अतः उद्‌गार द्वारा वायु सम गैस अथवा प्राण का नाग उपप्राणरूप से निकलना ही सहज हितकारी होता है। हिचकी रजःप्रधान नाग के अवसर पर ही आती है। इसका सम्बन्ध विशेषरूपेण नाग प्राण से होता है क्योंकि उदान प्राण नाग प्राण का अत्यन्त समीपवर्ती है। हिचकी के अवसर पर नाग और उदान में विशेष क्रिया होती है जो कण्ठ और मुख में होती है। यह वातजन्य रोग है। इसका प्रभाव उदान और नाग पर ही अधिक होता है। उस समय ये दोनों रजोगुण प्रवृत्त हो जाते हैं। कुछ खाने या पीने से हिचकी शान्त हो जाया करती है। इसका मूलस्रोत आमाशयगत समान प्राण ही होता है। परन्तु यह कण्ठ और मुख में उग्ररूप धारण करती है। उस समय नाग और उदान भी कुपित हो जाते हैं। इस प्रकार इन दोनों का ही यह कार्य विशेष है। मुख में ही विशेष क्रियाशील होने से इसे मुखस्थानीय नाग कहते हैं। आहार कम खाने, पाचन-शक्ति ठीक रहने और वात-प्रधान न होने से इन दोनों पर विजय हो जाती है। अन्यथा उद्‌गार, डकार या हिचकी जीवन पर्यन्त कष्ट देते रहते हैं।

तमःप्रधान नाग उपप्राण—तमोगुणप्रधान नाग प्राण एक प्रकार से प्रसुप्त सी अवस्था में रहता है तथा रजस् ही इसे जागृत करता है। अन्यथा यह सदा एक ही स्थिति में बना रहता है।

कूर्म उपप्राण—इस प्राण का निवास नेत्र में है। यह पलकों के खोलने और बन्द करने का कार्य करता है। इसके धर्म संकोच और विकास हैं। नेत्रों के निमेषोन्मेष काल में यह संकोच विकास करता रहता है। इसके ये स्वाभाविक धर्म नाग प्राण में देखने में आते हैं। अन्य प्राणों और उपप्राणों से यह निमेषोन्मेष का कर्म भिन्न प्रकार का है और विशेष भी है। त्राटक काल में ये धर्म विशेष प्रयत्न द्वारा प्रसुप्त से हो जाते हैं किन्तु जागृतावस्था में ये अपना कार्य निरन्तर करते रहते हैं। निद्रा, स्वप्न और समाधि की अवस्था में इसका कार्य बन्द हो जाता है। जागृत स्थिति में यह सदा स्वाभाविक बना रहता है।

सत्त्वप्रधान कूर्म उपप्राण—जागृत दशा में जब योगी ध्यान करता है तब भी इसमें सात्विकरूपेण निमेषोन्मेष क्रिया कभी-कभी होती रहती है। हर्ष, आनन्द और शान्ति के समय कूर्म उपप्राण सत्त्वप्रधान रहता है।

रजःप्रधान कूर्म—रजःप्रधान कूर्म उपप्राण के अन्तर्गत जब आंखें दुखने लगती

हैं अथवा जब मनुष्य रोने लगता है तब रजः प्रभावित कूर्म का निमेषोन्मेष कार्य विचित्र प्रकार का होता है। युद्ध-काल तथा खेल-कूद में भी इसका कार्य विलक्षण हो जाता है। दौड़ते समय अथवा टेनिस, क्रिकेटादि के खेलने के समय भी यह रजःप्रधान होता है। पर्वत पर चढ़ने उतरने में भी यह रजःप्रधान होता है। मैथुनकाल में भी रजःप्रधान कूर्म प्राण अपना कार्य करता है। तब इसका निमेषोन्मेष विलक्षण प्रकार से होता है।

तमःप्रधान कूर्म उपप्राण—निद्रा तथा मूर्च्छा की अवस्था में यह भी प्रसुप्त हो जाता है। उन्मनी तथा शाम्भवी मुद्रा और त्राटककाल में भी क्रिया-रहित होता है परन्तु निद्रा और मूर्च्छा में यह तमःप्रधान ही रहता है।

कृकल उपप्राण—कृकल उपप्राण का निवास कण्ठ में है। इसका प्रधान कार्य जृम्भा लाना है। इसे उत्रामी भी कहते हैं। यह आलस्य और प्रमाद को दूर करती है। कण्ठ और मुख का विस्तार करती है। स्मरणमात्र से जम्भाई आने लगती है। इसका सम्बन्ध मुख, कण्ठ और छाती से है। इसे स्मरण करते और लिखते समय हमें भी अनायास ही जम्भाई आने लगी है और आज बहुत देर तक पुनः-पुनः आती रही। आलस्य और प्रमाद के समय विशेषरूपेण जम्भाई आती है। आलस्य के अभाव में नहीं आती। कण्ठ-कूप में विशेष संयम द्वारा यथोचित अभ्यास करने से क्षुधा और पिपासा की निवृत्ति होती है। कृकल प्राण के प्रदेश में उदान-प्राण का स्थान है।

सात्विक कृकल उपप्राण—समाधि की स्थिति में जम्भाई का क्षोभ नहीं रहता। भूख और प्यास के वेग भी नहीं सताते। उदान के सहयोग से यह शान्त रहता है।

रजःप्रधान कृकल उपप्राण—पुनः-पुनः जम्भाई आने से यह उत्तेजित हो जाता है। शान्त नहीं होता। क्षुधा और पिपासा को जागृत करके संतप्त बना देता है। आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यता उत्पन्न करता है। कार्य करने में असमर्थ बना देता है। निद्रा आने लगती है। शरीर में शिथिलता छा जाती है।

तमःप्रधान कृकल—तमःप्रधानता की स्थिति में निद्रा, तन्द्रा तथा आलस्य घेरे रहते हैं। पुरुषार्थ-हीनता का प्राधान्य रहता है। धार्मिक कार्य तथा कर्तव्य-पालन में असमर्थता लाता है।

देवदत्त उपप्राण—देवदत्त उपप्राण नासिका स्थानीय है। इसका कार्य मुख्यतया छींक लाना है। छींक आने से मस्तिष्क हलका हो जाता है। मस्तिष्क और कण्ठ का रेशा निकल जाता है और मस्तिष्क तरोताजा हो जाता है।

सात्विक अवस्था में देवदत्त—देवदत्त प्राण श्वास-प्रश्वास की गति में सहायक होता है। धारणा, ध्यान और समाधि में विक्षेप नहीं होने देता तथा मस्तिष्क को शुद्ध, पवित्र और हल्का बनाए रखता है।

रजःप्रधान देवदत्त—उत्तेजक पदार्थों से क्षुब्ध होकर छींक लाने लगता है। तीक्ष्णगन्ध वाले तम्बाकू, नसवार आदि पदार्थों के सेवन से कुपित होकर छींक उत्पन्न करता है। जुकाम के परिणामस्वरूप श्वास-प्रश्वास की रुकावट तथा बहने वाले द्रव पदार्थ को दूर करता है। तीक्ष्णगंधों से इसकी उत्तेजना में वृद्धि हो जाती है और गंध की अनुभूति से वृद्धि होती है।

तामसिक देवदत्त उपप्राण—निद्रावस्था में तम से आवृत होकर यह स्थिर बना रहता है। एकाकार की स्थिति रहती है। आत्मविज्ञान ग्रन्थ में प्राणमयकोश में सर्वप्राणों के रंग रूपों का विशेष कथन कर दिया है और प्रत्येक भूत से सब प्राणों का सम्बन्ध भी बताया है। प्रत्येक प्राण में पृथ्वी, जल, अग्नितत्त्व सम्मिश्रण किया है। उन सबका सम्बन्ध और समावेश आंशिक रूप से यहां भी कर दिया है। मानवदेह में प्राण का स्वरूप और इसकी उत्पत्ति एवं सात्विक, राजसिक और तामसिक भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसके तीन प्रकार के भेद हैं। इनके ज्ञान से पाठकों को ज्ञात हो जाएगा कि वास्तव में जीवन का आधारस्तम्भ प्राण ही है।

इति ब्रह्मनिष्ठराजयोगाचार्योपाधिधारिणा श्री योगेश्वरानन्द
सरस्वतिस्वामिना प्रणीते प्राणविज्ञानाख्य ग्रन्थेऽस्मिन्
प्राणस्वरूप वर्णनात्मको चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः।

पंचमोऽध्यायः

स्थूल महाभूतों की सृष्टि में स्थूल शरीर के ३० प्रकार के प्राणों का समाधि द्वारा साक्षात्कार और आत्मानुभूति

योगी जब 'ध्यानं निर्विषयं मनः' के अनन्तर सम्प्रज्ञात समाधि में प्रवेश करके उपप्राण को समाधि का विषय बनाता है तब जिज्ञासा होती है कि सर्वप्रथम किस प्राण को समाधि का विषय बनाया जाय। इस 'प्राण-विज्ञान' ग्रन्थ में हमने सब से अन्त में उपप्राणों में 'देवदत्त' नाम के उपप्राण का स्वरूप वर्णन करके समाप्ति की है। सर्वप्राणों का मूल कारण प्रकृति की साम्यावस्था में होने वाली सूक्ष्म गति को प्राण कहा है। तीनों शरीरों में जो प्राण हैं, वे सब प्राण उसी की सन्तति हैं। इन सब प्राणों के अन्त में 'देवदत्त' नाम के उपप्राण से समाप्ति हुई है। विज्ञान के क्रम से सर्वप्रथम इसी को अपनी समाधि का विषय बनाना चाहिये। सात्विक, राजस् और तामस् भेद से १५ प्रकार के उपप्राणों का साक्षात्कार प्रारंभ करते हैं।

देवदत्त उपप्राण का साक्षात्कार—इस उपप्राण का निवास नासिका में है। नासिका अपने उपादान कारण गन्ध का उपभोग करती है। यह ज्ञानेन्द्रियों में से एक है। इसमें गन्ध तन्मात्रा की प्रधानता है। देवदत्त उपप्राण में कभी-कभी छींक का प्रादुर्भाव होता है, प्रत्येक समय में नहीं। किसी निमित्त-विशेष से ही होता है। इसकी उत्पत्ति में 'देवदत्त' उपप्राण उपादान कारण है। छींक के समय जो क्रिया नासिका में होती है, वह सरसराहट और जलन के रूप में होती है। उसी काल में उसके कारण और कार्य का साक्षात्कार होता है। उस समय प्राण में जो क्रिया होती है, वह भी अनुभव करने योग्य होती है। यह प्रक्रिया भी रजोगुण की प्रधानता में ही होती है।

सत्त्वावस्था में देवदत्त उपप्राण का साक्षात्कार—सत्त्वावस्था में जब छींकें आती हैं उस काल में इसके व्यापार को देखना और समझना चाहिये कि नासिका,

मुख और कण्ठ में इसका क्या प्रभाव पड़ रहा है। इस अवस्था में मस्तिष्क में हल्कापन और मन में शान्ति का अनुभव होता है। यह उसकी सात्त्विक अवस्था है।

रजःप्रधान 'देवदत्त' का साक्षात्कार—तीव्र गन्ध या उसकी प्रतिक्रिया के अवसर पर जो छींक आती है उस समय इसके व्यापार को देखना चाहिये कि क्या छींक का आना आवश्यक है ? क्या यह सिर और मस्तिष्क के लिये उपयोगी है ? रजोगुण की अवस्था में ही विशेष प्रक्रिया का साक्षात्कार होता है। उस समय मस्तिष्क का विरेचन सा हो जाता है। अतः छींक का आना कभी-कभी आवश्यक और लाभदायक होता है।

तमःप्रधान 'देवदत्त' उपप्राण—निद्रा और तन्द्रा में 'देवदत्त' का कार्य एकसमान होता है। जागृत अवस्था में कभी-कभी छींक अवश्य लेनी चाहिये। इससे मस्तिष्क के तन्तु और नाड़ियां खुल सी जाती हैं। सिर दर्द में छींक आने से दर्द कम हो जाता है। सिर में हल्कापन आ जाता है। इन तीनों अवस्थाओं में देवदत्त की प्रक्रियाओं का अनुभव ही साक्षात्कार कहलाता है।

कृकल उपप्राण—इसका निवासस्थान मुख है। जम्भाई के समय इसकी गति-विधि का ज्ञान होता है। जृम्भा के समय मुख में होने वाली इसकी प्रक्रिया को हम प्रत्यक्ष देखते हैं।

सात्त्विक अवस्था में कृकल उपप्राण का साक्षात्कार—ध्यान-समाधि की अवस्था में इसमें कोई क्षोभ नहीं होता। शान्ति की अनुभूति बनी रहती है। इसका निवास मुख में होने से इसकी गतिविधि में भी रुकावट नहीं होती। उस समय इसका कोई भी कार्य देखने में नहीं आता। शान्ति का साम्राज्य रहता है।

रजःप्रधान कृकल का साक्षात्कार—इसकी प्रधानता में जम्भाई आती है। आलस्य और प्रमाद में इसका प्रादुर्भाव होता है। अभ्यास द्वारा इसके वेग को रोका भी जा सकता है। इसका कारण जानकर क्षुधापिपासा की निवृत्ति भी संयम द्वारा बहुत काल तक की जा सकती है। जम्भाई के आने से पता लगता है कि कृकल नाम का भी कोई प्राण है जिसका व्यापार देखने में आता है। इसके वेग को भी शान्त किया जा सकता है। कण्ठ प्रदेश में संयम करने से इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इससे अलौकिक तरलता मुख तथा कण्ठ में आ जाती है। कई-कई दिन तक प्यास भी नहीं लगती। तालुप्रदेश में मधुरस का स्राव होने लगता है। इससे योगी को अलौकिक रसपान की अनुभूति होने लगती है। तृषा और क्षुधा शान्त हो जाती हैं। बहुत काल तक

समाधि की योग्यता बनी रहती है। तब यह प्राण सत्त्वरूप में परिणत हो जाता है। इस देश में रहने वाले कृकल उपप्राण और उदान प्राण का साक्षात्कार होता है। आलस्य, प्रमाद, निद्रा और तन्द्रा की निवृत्ति हो जाती है। इसमें जलतत्त्व की प्रधानता रहती है। इसका वेग क्षीण होने पर जम्भाई, भूख और प्यास शान्त हो जाते हैं। इसके कुपित होने पर भूख-प्यास, जम्भाई आदि पैदा होने लगते हैं। उस समय कृकल पर संयम की आवश्यकता होती है। उस संयम से भूख-प्यास, जम्भाई, आलस्य, निवृत्त होकर तालु के ऊपर के भाग से, गण्डस्थलों से मधुर रस का स्राव होने लगता है। सूखा हुआ मुख तरल हो जाता है। गले की खुशकी और प्यास समाप्त हो जाती है। जब मनुष्य जल का उपवास करता है या बहुत घण्टों की समाधि में बैठता है उस काल में मुख और कण्ठ प्रदेश अत्यन्त सूख जाते हैं। घबराहट सी होने लगती है। तब कृकल और उदान पर संयम करने से मुख प्रदेश में रस का स्राव प्रारम्भ हो जाता है। उससे मुख और कण्ठ में तरलता आ जाती है। धैर्य्य, उत्साह, बल तथा शक्ति की वृद्धि होती है। शान्ति का अनुभव होने लगता है। सविकल्प और निर्विकल्प समाधियों की योग्यता पैदा हो जाती है। युवावस्था में जब मैं कई-कई घण्टे और दिनों की निर्विकल्प समाधि का अभ्यास किया करता था, तब ये विक्षेप आया करते थे। उपरोक्त कृकल में संयम से निवारण किया करता था। यही कृकल पर विजय और साक्षात्कार कहलाता है।

तमःप्रधान कृकल उपप्राण का साक्षात्कार—यह शून्य समाधि, निर्विकल्प समाधि एवं निद्रा-तन्द्रा में एकसमान रहकर कार्य करता रहता है। बहुत काल तक संयम करने से योगी को सात्त्विक, राजस् और तामस् इन तीनों प्रकार के कृकल का अनुभव हो जाता है।

कूर्म उपप्राण भी सात्त्विक, राजस् और तामस् भेद से तीन प्रकार का है। निमेषोन्मेष इसका स्वाभाविक कर्म है जो नेत्रों की ज्योति को ठीक बनाए रखता है और उनकी रक्षा भी करता है। नेत्रों में तरलता पैदा करता रहता है। यह सब प्राणों और उपप्राणों की अपेक्षा बहुत छोटे स्थान में निवास करता है।

सत्त्व-प्रधान कूर्म उपप्राण का साक्षात्कार—त्राटक करते हुए समाधि की अवस्था में जब इसका साक्षात्कार किया जाता है, उस समय निमेषोन्मेष का कर्म बन्द हो जाता है। उसकी गति का अभाव हो जाता है। एक प्रकार से यह प्रसुप्त सा हो जाता है। इस पर धारणा, ध्यान व समाधि में संयम से विजय पाई जाती है। योगी इसे निश्चेष्ट बना देता है। नेत्र खुले हों या बन्द, ध्यान-समाधि की अवस्था में इस पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। उन्मनी मुद्रा में इसके द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करके वहां के पदार्थों का

साक्षात्कार किया जा सकता है। इस छोटे से प्रदेश में रहकर ध्यान-समाधि में योगी का यह बहुत उपकार करता है। उस काल में देवत्व-भाव पैदा करता है। संयम को दृढ़ बनाता है। योगी इसके द्वारा पदार्थ के स्वरूप को प्रत्यक्ष कर लेता है। सात्त्विक अवस्था में इसके अन्य सब व्यापार तथा राजसिक कर्म बन्द हो जाते हैं। इस छोटे से अक्षि-गोलक में इसका निवासस्थान है। इसमें बड़ी शक्ति होती है। दूसरों को प्रभावित करने में यह महान् कार्य करता है। उपरोक्त साधनों और संयम से योगी इस कूर्म प्राण का साक्षात्कार करता है।

रजःप्रधान कूर्म उपप्राण का साक्षात्कार – युद्ध-काल में, खेल-कूद के समय, तीव्र क्रोध के अवसर पर, मैथुन काल में इसकी गतिविधियों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। इन अवसरों पर यह विशाल रूप धारण कर लेता है और प्रचण्ड बन जाता है। पलकों की गतिविधि भयंकर हो जाती है। इन अवसरों पर इसका साक्षात्कार करना चाहिये। इस छोटे से नेत्र के क्षेत्र में इस कूर्म का प्रत्यक्ष करना कोई कठिन और दुर्ज्ञेय ज्ञान नहीं है। इस रजःप्रधान अवस्था में इसके प्रधान कर्मों को संयम का विषय बनाकर योगी को साक्षात्कार करना चाहिये। इन प्रधान कर्मों के अवसरों पर प्राण के कर्म की और निमेषोन्मेष की प्रक्रिया अत्यन्त विलक्षण हो जाती है।

तमःप्रधान अवस्था में कूर्म उपप्राण का प्रत्यक्ष—निद्रा तथा मूर्च्छा काल में यह मूर्च्छित सा होकर समानरूप से कार्य करता रहता है। इसके ज्ञान का भी अभाव रहता है। शून्य समाधि और निर्विकल्प समाधि में यह विलीन सा हो जाता है। इस कूर्म उपप्राण में अग्नि-तत्त्व भी रहता है। इसीलिये जागृत काल में सब रूपवान् पदार्थों को दिखाता है। नेत्र में, जहां प्राण का निवास है, वहां तेज का भी है। अक्षिगोलक में जल-तत्त्व भी रहता है क्योंकि अश्रुओं का निकास और उनका प्रवाह भी इसमें होता है। पृथ्वीभूत से यह गोलक बना है। इस छोटे से प्रदेश में पंच-भूत भी विज्ञान और साक्षात्कार का हेतु होते हैं परन्तु इसमें कूर्म प्राण की प्रधानता विशेष रूप से है।

योगी संयम द्वारा नाग उपप्राण का सत्त्व, रज, तम के भेद से साक्षात्कार एवं इसकी आगे सब प्रकार की गतिविधि और स्थिति का अनुभव करता है। इसके मुख्य कार्य उद्गार और हिचकी हैं। इन दोनों का उदान प्राण से भी सम्बन्ध है।

सत्त्वप्रधान नाग उपप्राण का प्रत्यक्ष ज्ञान—योगी ध्यान के उपरान्त समाधि की अवस्था में नाग प्राण के मुख्य कार्यों को लक्ष्य बनाकर साक्षात्कार करें। इस प्राण का मुख में निवास होने से डकार और हिचकी इसके दो बड़े कार्य हैं। इसमें

वायुभूत की प्रधानता होती है। इसका कार्य-क्षेत्र मुख में ही है। जब कोई व्यक्ति उद्गार लेता है तब सर्वप्रथम इसकी क्रिया मुख में होती है। फिर यह उदान का आकर्षण करके उसके द्वारा प्राण को बाहर निकालता है। योगी इसको संयम बनाकर प्रत्यक्ष ज्ञान करें। यह उद्गार रूप कर्म वात-प्रधान रोगियों में विशेष रूप से होता रहता है। अतः वात को शमन करने के लिये दीपन, पाचक, लघु आहार का सेवन करते रहना चाहिये। तब यह सत्त्वमय बना रहता है। अन्यथा रजःप्रधान हो जाता है। इसको अपने ध्यान का विषय बनाकर देखना और अनुभव करना चाहिये। इसके गुण-दोष, गतिविधि, हानि-लाभ का भी साक्षात्कार करना चाहिये। और यह भी देखना चाहिये कि इसके क्या-क्या कर्म हैं। शरीर के किस-किस देश में और कहां-कहां पहुंच कर क्या-क्या कार्य करता है। इसका सम्बन्ध प्राण और उदान से भी उद्गार के समय हो जाता है और उनको भी कुपित कर देता है। नाग उपप्राण उदान, प्राण, और समान को भी उद्गार के समय कम्पायमान कर देता है। अतः इन प्राणों और प्रदेशों को संयम का विषय बनाकर प्रत्यक्ष करें, क्योकि यह योगी के लिये लाभदायक होता है। इसी प्रकार योगी हिचकी को भी अपने संयम का विषय बनाये, क्योंकि यह भी उद्गार की बहन सी है। इसका सम्बन्ध मुख, कण्ठ, उरु और आमाशय से होता है। जब यह उत्पन्न होती है तब इसका सर्वप्रथम कार्य मुख में ही होता है। तत्पश्चात् यह प्राण और उदान को आकृष्ट करती है। कण्ठ और मुख में इसकी क्रिया विशेषतः होती है। गौणरूप से छाती में होकर आमाशय तक पहुंचती है। अतः इसको देखते हुए इसके कर्म और व्यापार में नाग की जो क्रिया होती है, उसे अपने प्रत्यक्ष का विषय बनाना चाहिये। यह भी समाधि की अवस्था में विक्षेप का हेतु हो जाती है। अतः योगी को इसके गुण और दोष का ज्ञान होना चाहिये।

रजःप्रधान नाग उपप्राण का साक्षात्कार—इसकी रजःप्रधान अवस्था में उद्गार और हिचकी आती हैं। इस काल में इसकी गति तीव्र हो जाती है। इसे अपने ध्यान का विषय बनाकर योगी इसकी क्रियाओं को देखता रहे और इस बात का प्रत्यक्ष करे कि किन-किन कारणों से यह उत्पन्न हुई हैं। इनकी खोज और अनुसंधान करे। इनको प्राणायाम, ध्यानबल या मनोबल अथवा औषधि से शमन करे। इसके वास्तविक स्वरूप को समझे ताकि भविष्य में इनके कर्म विक्षेप का हेतु न हो सकें। तभी इस नाग प्राण पर अधिकार और इसका साक्षात्कार हो सकता है। इन दोनों का शमन या निरोध हो जाने पर योगी का नाग उपप्राण पर पूर्ण अधिकार हो जाता है।

तमःप्रधान नाग उपप्राण—सुषुप्ति, मूर्च्छा, शून्यसमाधि और निर्विकल्प समाधि में नागप्राण का एक समान व्यापार बना रहता है। गौण रूप से सत्त्व और रज भी इसमें रहते हैं परन्तु इस काल में उद्गार और हिचकी नहीं आतीं और ये विक्षेप का कारण भी नहीं बनतीं। यहां नाग की एकाकार स्थिति बनी रहती है।

धनञ्जय उपप्राण को सात्त्विक, राजस्, तामस् भेद से साक्षात्कार का विषय बनाना चाहिये क्योंकि यह भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। आकाश तत्त्व प्रधान होने से शरीर में सर्वत्र वर्तमान रहता है।

सत्त्वप्रधान धनञ्जय उपप्राण—जागृत अवस्था में योगी जब सत्त्वप्रधान धनञ्जय का साक्षात्कार करने के लिये समाधि में प्रवेश करता है, उस समय वह समस्त शरीर में व्यापक सी दृष्टि डालता है, परन्तु तब इसके शोथ आदि कार्यों की अनुभूति नहीं होती। अपने या दूसरे के शरीर में शोथ होने पर उसे संयम का विषय बनाये। मन और बुद्धि की दिव्य दृष्टि से इसके कारण और कार्य को प्रत्यक्ष करे। जीवनकाल में ही धनञ्जय के द्वारा शरीर में क्षोभ होता है। मृत्यु के पश्चात् नहीं होता, क्योंकि मृत्यु होते ही सब प्रकार के प्राण शरीर से निकल जाते हैं। ऐसी अवस्था में धनञ्जय की शरीर में स्थिति की सम्भावना ही नहीं हो सकती; क्योंकि तब चेतन आत्मा, स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर ही नहीं रहते जो सर्वप्रकार के प्राणों के आधार हैं। अतः धनञ्जय भी शेष उपप्राणों के साथ ही निकल जाता है। मृत शरीर में शोथ होना या फूल जाना बाह्य भौतिक वायु अथवा गर्मी से भी हो सकता है। मृत्यु के उपरान्त उसे बाह्य वायु और तेज या गर्मी फुला देती है। अतः जीवन-काल में ही धनञ्जय शोथ उत्पन्न करता है।

रजःप्रधान धनञ्जय उपप्राण का प्रत्यक्ष—योगी इसका अनुसन्धान करे कि शरीर में आघात या चोट लगने अथवा बीमारी के कारण जो शोथ उत्पन्न हुआ है इसमें किस प्रकार की क्रिया प्राण द्वारा हो रही है? वह त्वचा-गत है अथवा मांस-पेशियों में है? इसके फूलने में केवल धनञ्जय कारण है या कोई और भी कारण है? यहां प्रश्न यह उठता है कि क्या इस शोथ में केवल धनञ्जय ही कारण है या व्यान प्राण भी? क्योंकि ये दोनों ही सारे शरीर में व्याप्त हैं। दोनों में आकाशतत्त्व प्रधान है।

समाधान—व्यान का गतिवाहक और ज्ञानवाहक तन्तुओं या नसों में कार्य करना है। यदि शोथ भी व्यान का कार्य होता तो धनञ्जय को अलग मानने की आवश्यकता न होती। अतएव शोथ पैदा करना धनञ्जय का ही कार्य है और यह

जीवित शरीर में ही अपना कार्य करता है। मृत शरीर में फुलाव या शोथ तो भौतिक वाह्य वायु या गर्मी करती है।

तमःप्रधान धनञ्जय उपप्राण का प्रत्यक्ष—जब शरीर के किसी अंगोपाङ्ग में शोथ ठहर जाता है और बहुत दिनों तक घटता बढ़ता नहीं, तो यह इसकी तमःप्रधान स्थिति होती है। वर्म, सोजिश, या शोथ के उत्पन्न होने, बढ़ने और नष्ट होने में जो गति होती है, वह रजःप्रधान धनञ्जय का ही कार्य है। उसे बढ़ने और घटने के समय ध्यान की दिव्यदृष्टि से देखना और समझना चाहिये। जब क्षोभ की गति बन्द हो जाय, उसके बन्द होने के कारण को भी जानना चाहिये। प्राणायाम या औषधि के प्रयोग से धनञ्जय में गति पैदा करके शोथ का निवारण किया जा सकता है। योगबल से भी इसका शमन हो सकता है। धनञ्जय की गति ही शोथ के निवारण में कारण होती है। यह कार्य रजोगुणी धनञ्जय का है और स्थिति तम के कारण होती है। इन तीनों का साक्षात्कार योगी को करना चाहिये। पांचों उपप्राणों की सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से १५ प्रकार की संज्ञा होती है। सिर के छोटे से प्रदेश में प्राण के भिन्न-भिन्न कार्य होने से १५ भेद हो जाते हैं। एक प्रकार से यहाँ सात विभिन्न प्राण कार्य करते हैं, क्योंकि समीपस्थ कण्ठ देश का उदान और सर्वत्र विचरने वाला व्यान भी कार्य करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राण का बड़ा महत्त्व बतलाया है।

महर्षि याज्ञवल्क्य उपनिषद् काल के बड़े उच्च कोटि के ब्रह्मनिष्ठ तथा विख्यात और आत्मज्ञानी विद्वान् थे। महाराजा जनक के राज्य में अत्यन्त प्रसिद्ध दार्शनिक एवं प्रतिष्ठित तत्वज्ञानी गिने जाते थे। जनक की सभा में शाकल्य नाम के ऋषि ने याज्ञवल्क्य से पूछा, "भगवन् आप और आत्मा किस में ठहरे हुए हो?" उत्तर मिला, "प्राण में।" फिर प्रश्न उठा, "प्राण किस में ठहरा हुआ है?" उत्तर मिला, "अपान में।" पुनः प्रश्न पूछा गया, "अपान किस में ठहरा हुआ है?" उत्तर मिला, "व्यान में।" जब इस प्रकार वह लगातार पूछते ही गये, तब याज्ञवल्क्य कहने लगे, "आत्मा अग्राह्य है, असङ्ग है। यह प्राण से व्यथित नहीं होता"।[1]

(१) "कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितो स्थ इति प्राण इति, कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित तत्यपान इति, कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति, कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति, कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यते············॥" बृहदारण्यक उप०, अ० ३, ब्रा० ६, मं० २६

उपप्राणों के साक्षात्कार के पश्चात्, वायुभूत के कार्य एवं पांच प्रकार के प्राणों के साक्षात्कार का वर्णन किया जाता है। ये भी सात्विक, राजसिक, तथा तामसिक भेद से १५ प्रकार के होते हैं। सर्वप्रथम अपान का वर्णन करते हैं, क्योंकि इसमें पृथ्वीतत्त्व की प्रधानता है और कुछ गुरुत्व धर्म भी इसमें है। इसलिए इसके सर्व कार्य अधःपतन के ही होते हैं।

अपान प्राण का साक्षात्कार—इस अपान के बहुत से कार्यों और धर्मों का उल्लेख हम विस्तारपूर्वक कर चुके हैं। इसमें विशेष धर्म और गुण मल-मूत्र रज-वीर्य विसर्जन करना एवं गर्भस्थ बालक को धारण-पालन-पोषण-रक्षण और गर्भ से बाहर लाना इसी के प्रधान कार्य हैं। इसकी सात्त्विक, राजस्, तामस् अवस्थाओं का साक्षात्कार योगी को करना चाहिये।

सत्त्व-प्रधान अपान प्राण का साक्षात्कार—जब योगी इन्द्रियों और मन को समाहित करके प्रत्याहार सिद्ध कर लेता है, तब धारणा और ध्यान के अनन्तर संप्रज्ञात समाधि के उदय होने पर अपान प्राण के प्रदेश को अपनी समाधि का विषय बनाता है। उस समय इसकी अवस्था सत्त्व-प्रधान होती है। अपनी दिव्यदृष्टि द्वारा योगी इसके मुख्य-मुख्य कार्यों को ज्ञान का विषय बनाता है। नाभि से गुदापर्यन्त इसका प्रधान कार्यक्षेत्र है। गौणरूप से पादतल तक कार्य करता है। नाभि से मूलाधार तक दो कर्मेन्द्रियों के भी क्षेत्र हैं। ये भी इसी की सहायता से अपने कार्य करती हैं। प्राणोत्थान और कुण्डलिनीशक्ति भी इसके आधार पर जागृत होती हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर चक्र भी इसके स्थान में विद्यमान् हैं। इनके कार्य भी इसी के आधार पर होते हैं। इस अपान के साक्षात्कार के समय, इन सब पदार्थों का साक्षात्कार भी योगी को हो जाता है। मल-मूत्र का निर्माण और विसर्जन तथा रज और वीर्य का निर्माण और विसर्जन, शिशु का निर्माण और गर्भ से बाहर आना भी इसी अपान प्राण के कार्य हैं। साथ ही प्राणोत्थान, कुण्डलिनी उत्थान का ज्ञान, मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपुर चक्रों के स्थान और इनके कार्यों का साक्षात्कार, छोटी बड़ी आँतों का कार्य, उपस्थ और योनि के कार्य इत्यादि विभिन्न कार्य अपान प्राण के आधार पर ही होते हैं। इसके प्रत्येक कार्य का सविकल्प और निर्विकल्प समाधि की अवस्था में साक्षात्कार करना चाहिए। प्रत्येक कार्य को समाधि का विषय बनाकर उसकी गतिविधि, कर्म और व्यापार के द्वारा परिणत होती हुई प्रत्येक अवस्था का निश्चयपूर्वक निर्भ्रान्त साक्षात्कार करें। इस विज्ञान का बहुत सा ज्ञान तो अनेक डाक्टरों और वैद्यों को भी होता है। परन्तु वे तो इस ज्ञान को यन्त्रों और

शल्यक्रिया द्वारा प्राप्त करते हैं, किन्तु प्राण, प्राणोत्थान, चक्र-विज्ञान, कुण्डलिनीज्ञान इत्यादि उसके पहुंच के बाहर की बात है। योगी अपनी दिव्यदृष्टि से इन सबका ज्ञान समाधि द्वारा प्रत्यक्ष कर लेता है।

मलनिर्माण कार्य में पाकज क्रिया होकर शनैः-शनैः विसर्जन रूप कर्म कैसे हो रहा है, अपान इस काल में यह कार्य कैसे कर रहा है ? मूत्रनिर्माण और विसर्जन में किस प्रकार की क्रिया इस देश में हो रही है, अपान इसको धक्का देकर कैसे बाहर फेंकता है और कैसे मन्द-मन्द गति होती रहती है ? वैसे तो मूत्र-निर्माण और विसर्जन के कार्य को गुर्दे ही करते हैं, परन्तु वहां भी प्राण का व्यापार ही क्रिया का हेतु होता है। मूत्रत्याग उपस्थ और योनि ही करते हैं। रज का निर्माण शनैः-शनैः छब्बीस-सत्ताईस दिन में होकर स्वयं निस्सरण होने लगता है। यह एक मास में पूर्ण होकर अपना कार्य स्थगित कर देता है। इस प्रकार अपान के कार्य और व्यापार के ज्ञान की आवश्यकता है। योगी शरीर के विज्ञान को समाधि द्वारा साक्षात्कार कर लेता है। मानव शरीर में सातवीं धातु वीर्य है जो अन्तिम धातु है। यही शरीर का सारभूत रस है जो मानव शरीर के निर्माण में प्रधान कारण है। स्त्री और पुरुष के शुक्र-निर्माण में अण्ड भिन्न-भिन्न होते हैं। ये सन्ताननिर्माण करने वाले शुक्र को तैयार करते हैं। पुरुष में ये उपस्थ के नीचे होते हैं। इसी प्रकार स्त्री के शुक्र में भी यही बात है। गर्भ के आधान होने पर रज का स्रोत बन्द हो जाता है। फिर यह रज बालक के शरीरपोषण में काम आने लगता है। परन्तु स्त्री में भी शुक्र का निर्माण होता है और उसका विसर्जन होता रहता है। बहुत सी देवियों का प्रदर के रूप में और पुरुषों का प्रमेह के रूप में शुक्र का क्षय होता रहता है। रज और वीर्य की अलग-अलग विशेषताएं हैं। रजोधर्म लगभग ४५-५० वर्ष की आयु में बन्द हो जाता है। यह एक प्रकार का रक्त जैसा ही द्रव-रस या पदार्थ होता है। परन्तु वीर्य तो गर्भाधान के पश्चात् भी बनता रहता हैं और उनका स्राव भी होता है। स्वप्न-दोष के रूप में या प्रदर के रूप में स्राव होता है। यह धातु स्त्रियों के शरीर का पोषण करती रहती है अतः रज और वीर्य दोनों ही भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। ये भी शरीर-विज्ञान में अपान प्राण के अन्तर्गत हैं। अपान प्राण गर्भस्थ बालक का पोषण, संवर्धन तथा रक्षण दस मास तक करता रहता है। इसे भी प्रत्यक्ष करना चाहिये। इसी प्रकार प्राणोत्थान की क्रिया को भी समाधि का विषय बनाना चाहिये। यहां भी स्पर्शानुभूति द्वारा शरीर के पदार्थों की रचना का ज्ञान हो सकता है। सूक्ष्म प्राणायाम के समय यह प्राण नीचे जाता हुआ और ऊपर आता हुआ शरीर की ग्रन्थियों को स्पर्श करता

हुआ प्रतीत होता है। इस स्पर्श द्वारा भी पदार्थों का साक्षात्कार होता है। समाधि की एक ऐसी भी अवस्था होती है जब प्राण के स्पर्श की अनुभूति आत्मा या परमात्मा के साथ मिलने या संयोग से होती है। उस काल में ऐसा अनुभव होने लगता है मानो प्राण आत्मा या परमात्मा के साथ घुल-मिलकर चल रहा हो। ऐसा प्रत्यक्ष होता है जैसे ज्योति के द्वारा आत्मा या ब्रह्म का अनुभव हो रहा हो। प्राण या ज्योति या शब्द परमात्मा के प्रत्यक्ष करने में माध्यम होते हैं। ब्रह्माण्ड में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो बुद्धि या चित्त-गम्य न हो। अतः प्राण आदि ब्रह्म के साक्षात्कार में हेतु होते हैं। इसी प्रकार मूलाधार में भी यहां के पदार्थों के साक्षात्कार में प्राण आदि हेतु होते हैं। कुण्डलिनी शक्ति का प्रादुर्भाव भी मूलाधार में होता है। जैसे अन्तरिक्ष में वायु बादलों में विद्युत् पैदा कर देता है, इसी प्रकार अपान भी यहां कुण्डलिनीशक्तिरूप ज्योति उत्पन्न कर देता है। इस ज्योति को हम अनुद्भूतरूप प्रकाश कहते हैं। इसी अपान के स्थान में यह अपना कार्य करती है, अतः इसका बड़ा महत्व है। शरीर की लम्बाई की तुलना में अपान का क्षेत्र बहुत बड़ा है। यह नाभि से लेकर पैर के अंगूठे तक हैं। चक्रों के विज्ञान में यह बहुत सहायक होता है। छोटी और बड़ी आंत के कार्यकाल में मल-मूत्र में परिणाम होते रहते हैं। योगी अपनी अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से इनके विसर्जन रूप कर्म को प्रत्यक्ष करे। विज्ञान की दृष्टि से उपस्थ एवं योनि के सब कार्यों का अवलोकन करे, क्योंकि इनके सब कार्य अपान के आधार पर स्तम्भन, आकर्षण, प्रक्षेपण तथा स्थिति स्थापक होते हैं। यह संक्षिप्त रूप में अपान प्राण के साक्षात्कार का क्रम बताया है। तीव्र संवेगी योगी इससे भी अधिक विज्ञान का साक्षात्कार कर सकता है। प्राण चेतना का भी साक्षात्कार उस अपान के गर्भ में कर सकता है। इस देश का प्राण अपने देश की चेतना के साक्षात्कार का भी माध्यम बन सकता है। शरीर के भेद से प्राण के भेद, और प्राण के भेद से चेतना का भेद प्रतीत होता है। अन्यथा सर्वत्र प्राण और चेतन का भेद रहता।

रजःप्रधान अपान प्राण का साक्षात्कार—विषूचिका या स्त्री-संभोग के समय यह अत्यन्त प्रचण्ड सा हो जाता है। उस काल में या तो हैजे के रोगी या स्त्री-भोगी को इसके स्वरूप का यथार्थज्ञान होता है। युद्ध-काल में क्षत्रिय, खेल-कूद में खिलाड़ी को अपान के स्वरूप का पता लगता है। योगी को इसके स्वरूप का ज्ञान व साक्षात्कार वस्ती-कर्म, नौली-कर्म, अग्निप्रसारण प्राणायाम, त्रिबन्धरेचक प्राणायाम के समय होता है। ये कर्म करते हुए योगी रजःप्रधान अपान का प्रत्यक्ष कर लेता है। उपरोक्त कर्म करते हुए अपान के देश में विशेष धक्के लगते हैं जिससे इसकी गति तेज हो जाती है

और इसके भिन्न-भिन्न कार्यों का अनुभव होने लगता है। जब यह कुपित होता है तब नाभि से पादतल तक यह अनेक रोग उत्पन्न कर देता है। अतः संयम द्वारा इसके प्रभाव को सात्त्विक बनाने का यत्न करना चाहिये। इसके गुणों के परिवर्तन करने की योग्यता योगी में हो जाती है। अपान के प्रदेश में प्राणोत्थान एवं कुण्डलिनीजागरण के समय कभी-कभी रजोगुण बढ़ाया जा सकता है। इसकी प्रधानता में इसके गुण-धर्म और गतिविधि तथा कार्यों का अनुभव योगी को करना चाहिये। प्रसवकाल में यह अपान वेदना करने लगता है। यह वेदना और अत्यन्ततीव्र दर्द उग्ररूप धारण कर लेते हैं। उस काल का अनुभव तो योगी स्त्री ही कर सकती है। मूत्र-कृच्छ्रता, मधुमेह, बवासीर, अतिसार, विपूचिका आदि के अवसरों पर इसमें रजःप्रधान कर्म होता है। ये अवसर भी इसके साक्षात्कार के होते हैं। कटि-भाग में वेदना, घुटनों, गिट्टों, जोड़ों, सन्धियों में दर्द का होना अपान की प्रधानता में रजोगुण की उग्रता ही होती है। नाभि से पादतल तक जितने भी कार्य होते हैं इनमें तथा इन की प्रत्येक अवस्था में अपान के गर्भ में चेतना शक्ति का साक्षात्कार हो सकता है। प्राण का धर्म गति होते हुए भी उसमें चेतना तत्व आत्मा या परमात्मा सम्बन्धी ही मानना होगा। उन्हीं के आधार पर अपान में सर्व कार्य करने की सामर्थ्य आती है। नौली, वस्ती, बज्रोली क्रियाओं के समय में भी अपान का प्रत्यक्षज्ञान होता है। अपान के द्वारा ही योगी ये क्रियाएं किया करता है।

तमःप्रधान अपान प्राण का साक्षात्कार—तन्द्रा, निद्रा, मूर्च्छाकाल में तमःप्रधान अपान कार्य करता रहता है। इस काल में योगी भी इसे नहीं देख सकता। अतः उसे इस अवस्था में किसी अन्य व्यक्ति को अपनी समाधि का विषय बनाना चाहिये। निद्रा अवस्था में एकसमान कार्य होता रहता है। शून्य और निर्विकल्प अवस्था से पूर्व योगी इसे अपने शरीर में भी प्रत्यक्ष कर सकता है। अतः योगी को अपान प्राण के साक्षात्कार कर लेने पर समान प्राण के प्रदेश में इसके साक्षात्कार के लिये प्रवेश करना चाहिये। क्योंकि उसे स्थूल से सूक्ष्म का ज्ञान करना है। अपान की अपेक्षा समान सूक्ष्म है। अपान और समान के कार्य-स्थान साथ-साथ हैं।

'समान' प्राण सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीन प्रकार का है। यह अपान की अपेक्षा कुछ सूक्ष्म है और प्राण की अपेक्षा इसमें कुछ स्थूलता एवं गुरुत्व है। इसमें जलीय तत्व की कुछ प्रधानता है। अतः इसके कार्य भी अपान के कार्यों से भिन्न हैं। इसका स्थान नाभि से हृदय पर्यन्त है। इसके आश्रयाधीन मुख्य-मुख्य छः ग्रन्थियां हैं।

सत्त्वप्रधान समान प्राण का साक्षात्कार—अपान प्राण के देश में कारण और कार्य का ज्ञान होने पर योगी समान के स्थान में समाधि द्वारा उसके कार्यों का साक्षात्कार करता है। उसमें जो मुख्य-मुख्य ग्रन्थियां हैं उनमें विचरते हुए समान प्राण और उन ग्रन्थियों का प्रत्यक्ष ज्ञान भी होना चाहिये। समान प्राण की यह विशेषता है कि एक होते हुए भी यहां की ग्रन्थियों को भिन्न-भिन्न व्यापार कराने में समर्थ होता है। यकृत में होने वाले कार्य, जिनसे इसमें शर्करा उत्पन्न होती है जो शरीर के पोषण में काम आती है, योगी को अपनी ज्ञान-दृष्टि से इसे भी प्रत्यक्ष करना चाहिये। यह ग्रन्थि किस प्रकार आमाशय और पक्वाशय के पदार्थों को मधुर और क्षार रस के द्वारा पाचन कार्य कराने में सहायक होती है, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान भी योगी को होना चाहिये। इस मधुर और क्षार रस को समान द्वारा नलिकाओं से कैसे दोनों आमाशय + पक्वाशय में पहुंचाया जाता है, उसे भी प्रत्यक्ष करना चाहिये। इससे समान प्राण के कार्य और यकृत के व्यापार तथा शरीर का ज्ञान होता है। इस काल में योगी को यह भी अनुभव करना चाहिये कि केवल एकमात्र समान प्राण ही ये कार्य नहीं करता अपितु इसके अन्दर और भी कोई अदृश्य चेतन शक्ति वर्तमान है। यह सत्त्व-प्रधान समान प्राण ही उस परमसूक्ष्म अलौकिक चेतना के साक्षात्कार का माध्यम होता है। उसी चेतना के आश्रित समान प्राण की क्रिया हो रही है। यदि उस समय समान के अन्दर तीक्ष्ण दिव्य दृष्टि से देखा जाय तो एकमात्र चेतन सत्ता ही अनुभव में आती है और उस समय एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है जो अवर्णनीय है। वास्तव में जब तक आत्म-साक्षात्कार नहीं होता तभी तक प्राण, ज्योति आदि के माध्यम आदि की आवश्यकता होती है। एक बार आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर किसी भी माध्यम की आत्म-साक्षात्कार के लिये आवश्यकता नहीं रहती। फिर तो एक क्षण में ही सीधी दृष्टि चेतन पर पहुंच जाती है और इस प्रकार आत्मा या ब्रह्म से सीधा सम्बन्ध हो जाता है।

पक्वाशय में समान प्राणगत चेतना का प्रत्यक्ष उपरोक्त क्रिया से हो जाता है। इस प्रदेश में समान प्राण का कार्य उपरिलिखित आमाशय के कार्य से भिन्न है। यह समान प्राण की ही विलक्षणता है कि थोड़े-थोड़े फासले पर ही भिन्न-भिन्न कार्यों और रूपों में प्रतीत होने लगता है। इस प्रदेश में इसके विलक्षण कार्य से भोजन भिन्न-भिन्न रूपों में विभक्त और परिणत होने लगता है। उसके सूक्ष्म तथा स्थूल तत्वों को पृथक्-पृथक् रूपों में विभिन्न-ग्रन्थियों को प्रदान करने लगता है। इसके कर्तृत्व-धर्म और चेतना के कर्तृत्व-धर्म में भ्रान्ति होने लगती है कि यह कार्य समान प्राण का है अथवा

चेतना शक्ति का है। इस भ्रान्ति को दूर करने के लिये चेतन के सन्निधानमात्र से निमित्तकारण चेतन को मानना होगा।

प्लीहा ग्रन्थि के प्रदेश में समान प्राण का कार्य—प्लीहा के स्थान में समान प्राण अपनी विशेष क्रिया से जो क्षार रस बनाता है उस समय केवल इसी ग्रन्थि को अपनी समाधि का विषय बनाना चाहिये। यहां स्थान और कर्म के भेद से समान प्राण का भेद प्रतीत होने लगता है। परन्तु यह स्थान भेद ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्राण से समान का भेद हो गया है। इसी प्रकार यहां स्थान और कर्म के भेद से समान का भेद हो गया है। वास्तव में मूल-भूत एक प्राण ही है जो कार्य और स्थान भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। इस प्राण के भेद से इसमें चेतना का कोई भेद नहीं है। चेतन शक्ति सर्वत्र एक ही रूप में देखने और अनुभव में आ रही है।

छोटी आंत के स्थान में समान प्राण का कार्य—यथार्थ रूप में समान प्राण के प्रदेश में ऊपर की चार ग्रन्थियां ही कार्य करती हैं। परन्तु छोटी और बड़ी आंतों का कार्य अपान के प्रदेश में ही होता है। अपान ही यहां सब कार्य करता है। योगी को अपान के स्थान में दोनों आंतों के कार्य को प्रत्यक्ष करना है। उसी में आत्मा की अनुभूति हो सकती है। छोटी आंत का मुख पक्वाशय में मिला और खुला है। उससे ही यह आहार ग्रहण करती है। समान के स्थान से इसे केवल आहार लेना होता है। इसके शेष सब कार्य अपान प्राण ही करता है।

रजःप्रधान समान प्राण का कार्य और प्रत्यक्ष—रजःप्रधान समान प्राण में इसकी जागृत अवस्था में बड़े कार्य और क्षोभ होते हैं, और जब यह किसी कारणविशेष से कुपित होता है तब इसके आश्रित ग्रन्थियां भी विकृत होकर विपरीत कर्म करने लगती हैं। उससे शरीर रोगी हो जाता है। उस समय इसके कर्म को देखकर इसके भयंकर रूप का अनुभव होने लगता है। समान प्राण तथा ग्रन्थियां भी उत्तेजित हो जाती हैं। बुद्धिमान् योगी को मनोबल से उन्हें शमन करने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि सर्वप्रथम मन-बुद्धि में उत्तेजना होती है तत्पश्चात् क्रमशः प्राण और ग्रन्थियां उत्तेजित होती हैं। अतः मन और बुद्धि की उत्तेजना और क्षोभ को अभ्यास, वैराग्य और ज्ञान द्वारा शान्त करना चाहिए। इनके शान्त होने पर समान प्राण के रजोगुणात्मक धर्म का प्रभाव नहीं होता। यह सात्त्विक अवस्था में परिणत हो जाता है। रजोगुण का प्रकोप प्रतिकूल कर्मों से होता है, अतः अनुकूल कर्म ही करने चाहियें। ध्यान की दिव्य दृष्टि से इसके रजोगुणी स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिये। इसके ज्ञान से इसमें रहने वाली ग्रन्थियों का भी ज्ञान हो जाता है, और समान प्राण पर

वशित्व हो जाता है। रेचक प्राणायाम के समय, जिसमें उड्डियान बन्ध किया जाता है, उस समय उसे ध्यान-समाधि का विषय बनाने से इसका प्रत्यक्षज्ञान हो जाता है और उसके वास्तविक स्वरूप का भी दर्शन हो जाता है।

तमःप्रधान समान प्राण का साक्षात्कार—निद्रा तथा मूर्च्छा की अवस्था में किसी व्यक्ति को अपनी समाधि का विषय बनाकर उसके समान प्राण का साक्षात्कार करने पर देखने में आता है कि समान का कार्य एक ही स्थिति में लगातार होता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। यही इसका तामसिक रूप है, तभी इसका यथार्थ ज्ञान होता है। समान प्राण के अनुभव होने पर योगी को प्राण के क्षेत्र से प्रवेश करना चाहिये। यह क्षेत्र हृदय या कौड़ी के ऊपर के प्रदेश से आरम्भ होकर कण्ठ तक अपना कार्यक्षेत्र बनाये रखता है। यह भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीन प्रकार का है। इन तीनों अवस्थाओं में योगी को इसका साक्षात्कार करना चाहिये। प्राण के विषय में महाराज जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा था। तब उन्होंने बताया कि "प्राण ही बल है, बिना प्राण के मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता। अतः शरीर में प्राण का ही महत्त्व है। प्राण का आयतन प्राण को ही बताया है और आकाश को इसका प्रतिष्ठान बताया है।"[1]

प्राण की महिमा का उपनिषदों में बहुत स्थलों पर वर्णन आता है। मन और जीवन को स्थिर रखने वाला प्राण ही है। प्रधानरूप से इसका सम्बन्ध हृदय से है। श्वसन क्रिया मुख और हृदयपर्यन्त ही होती है। यदि हृदय की धड़कन बन्द हो जाये तो तत्काल मृत्यु हो जाती है। यह प्राण सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीन प्रकार का है। अब क्रमशः इसका वर्णन दिया जाता है।

सात्त्विक प्राण के कार्य और उसका विज्ञान—ध्यान के पश्चात् जब योगी प्राण को अपने विज्ञान का विषय बनाता है, उस समय हृदय के स्थान में इसके व्यापार को देखता है। तब तो स्थूल रूप में श्वास-प्रश्वास की क्रिया ही समझ में आती है, परन्तु जब श्वास-प्रश्वास को सूक्ष्म सा बनाकर इसको अपने विज्ञान का विषय बनाता है तो यह अत्यन्त मन्द और सूक्ष्म हो जाता है। इसकी गति रुकती हुई प्रतीत होने

(१) यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः शौल्वायनः प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्वायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किँस्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां नमेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य-प्राण एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा। बृ० उ०, अ० ४, ब्रा० १, मं० ३

लगती है। मन इसमें ही विलीन सा होने लगता है। श्वास भी रुकने लगता है, तब फिर घबरा कर बाहर निकलने का प्रयत्न करता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इसका स्रोत अन्दर है या बाहर है ? यदि बाहर है तब अन्दर जाने का प्रयत्न बार-बार क्यों करता है ? इसका उत्तर यही है कि श्वास-प्रश्वास क्रिया इसका स्वाभाविक धर्म है। न यह अधिक देर बाहर ठहरता है और न बहुत देर तक अन्दर ही रुकता है। प्राणायाम के द्वारा कुछ ऐसा अभ्यास हो जाता हैं कि कुछ मिनिट बाहर रुक जाये या कुछ मिनट अन्दर रुक जाये। परन्तु इस गमनागमन का सर्वथा अभाव नहीं होता है। विद्वज्जन कुछ ऐसा भी कहते हैं कि प्राण बाहर आकर अपने आहार को, जिसे आक्सीजन या प्राणदा वायु भी कहते हैं, ग्रहण करता है। इसे लेकर फिर अन्दर ही चला जाता है और इस आहार को सारे शरीर में बांट देता है। अतः वह प्राण अपने जाति वाले वायुरूप उपादान कारण से ही अपना आहार लेता है, इसी प्रकार शरीरस्थ जल और अग्नि भी, अपनी-अपनी जाति वालों से आहार को लेकर, जीवन को बनाये रखते हैं। पंचभूतों से शरीर बना है और इनको ही ग्रहण करके यह पुष्ट होता है और जीवित रहता है। रक्त का हृदय में प्रक्षेपण करना इसी प्राण का कार्य है। हर समय इसकी धड़कन देखने में आती है। इसका यह कार्य अहर्निश होता रहता है। यथा फुफ्फुसों में रक्त का आकर्षण और शुद्धि के पश्चात् प्रक्षेपण तथा हृदय में भी उसका आकर्षण और प्रक्षेपण होता रहता है। परमात्मा इस देश में व्याप्त है। उसकी व्याप्ति का स्पर्श प्राण द्वारा अनुभव होता है। जैसे आकाश के साथ प्राण के स्पर्श का अनुभव होता है, इसी प्रकार इस देश में प्राण के द्वारा चेतन के स्पर्श का अनुभव होता है। उस समय समाधि की सूक्ष्मदिव्यदृष्टि से प्राण के स्पर्श की अनुभूति होती है। योगी को सूक्ष्मऋतम्भराबुद्धि के द्वारा प्राण का चेतन से स्पर्श अनुभव होता है और वह चेतन के आनन्द की अनुभूति करता है। यह अकथनीय अवस्था होती है। "वर्णन करने में नहीं आती है, जैसे आनन्द के सागर में गोते लगा रहे हों—ऐसा अनुभव होता है।"[1] अब शंका होती है कि जब चेतन का कोई आकार नहीं है तो स्पर्श किसका ? आकार तो आकाश का भी नहीं है, इसका दृष्टि से अनुभव तो करते हैं। इसके रूप के विषय में यद्यपि कुछ कहते नहीं बनता तथापि इसकी सत्ता से इन्कार भी नहीं कर सकते। जब रूप के बिना आकाश का होना मानते हैं तब रूपरहित परमात्मा का होना भी क्यों नहीं मान सकते ? परन्तु जब कोई

(१) न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा, स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।

—मैत्रायणी-उपनिषद् प्रपाठक ४ मन्त्र ९

पदार्थ सत्तारूप में है और व्यवहार में भी आता है तब आपको उसका कुछ न कुछ रूप मानना ही होगा। अतः आपको हृदय प्रदेश में प्राण के द्वारा चेतन के स्पर्श के अनुभव का भी कुछ न कुछ ज्ञान होना ही चाहिये और प्राण के गर्भ में भी और बाहर भी चेतन की अनुभूति होनी चाहिये क्योंकि चेतन ही "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।" अर्थात् प्रत्येक पदार्थ के रूप के अनुसार ही चेतन का वही रूप हो जाता है और वह उसी की तरह भासने लगता है जैसे आकाश भासने लगता है। हृदयप्रदेश में कारण शरीर का प्राण भी अत्यन्त सूक्ष्म होता है, किन्तु योगी तो स्थूल शरीर के स्थूल प्राण से चेतन का साक्षात्कार करना चाहता है और चेतन शरीर में सर्वत्र व्याप्त है। अतः स्थूल प्राण से भी उसकी अनुभूति होनी ही चाहिये। अन्यथा चेतन की सर्वत्र व्याप्ति सिद्ध नहीं होगी। स्थूलता और सूक्ष्मता तो प्राण की है न कि चेतन की। अतः चेतन की अनुभूति प्राण में भी होनी चाहिये। चेतन के साक्षात्कार के पश्चात् योगी की निर्विकल्प अवस्था हो जाती है। इससे पूर्व ही चेतन प्राण के साक्षात्कार का हेतु बन जाता है। यह प्राण की विशेषता है कि सर्वव्यापक चेतन भी प्राण के रूप में भासने लगता है। इस प्रकार प्राण भेदरूप से भी और अभेदरूप से भी आन्तरिक अनुभव में आता है। एक और दूसरा क्रम भी आत्म-साक्षात्कार का होता है। स्थूल प्राण का सम्बन्ध सूक्ष्म प्राण से, सूक्ष्म प्राण का कारण प्राण से और कारण का चेतन आत्मा से बना लें। इस प्रकार क्रम-पूर्वक स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलकर आत्मा के समीप पहुंच जायें। तब सूक्ष्म प्राण से भिन्न प्रदेश में आत्मा का स्पर्श करें। इस 'प्राण विज्ञान' ग्रन्थ में हम सब पदार्थों का साक्षात्कार प्राण द्वारा ही करना चाहते हैं; क्योंकि सब पदार्थों में कार्य और कारण के रूप में प्राण वर्तमान है और वही क्रिया का हेतु बना हुआ है।

रजःप्रधान प्राण का साक्षात्कार—किसी दूसरे व्यक्ति के जागृतकाल में इसके कार्यों को देखकर योगी उन्हें अपने ध्यान का विषय बनाए, तब इस प्राण का विशेष अनुभव हो सकता है। युद्ध के समय, खेलने, दौड़ने, पहाड़ पर चढ़ने और क्रोध की उत्तेजना के अवसरों पर इस प्राण में रजोगुण प्रधान होता है। इन अवसरों पर इसके कार्य व व्यापार को देखना चाहिये कि इसकी गति कितनी तेज हो जाती है। उस समय इसके आश्रित हृदयग्रन्थि प्रकुपित होकर फटने सी लगती है, हृदय फूल जाता है, फुपफुस सन्तप्त और क्षुभित होकर तेजी से कार्य करने लगते हैं। ऐसे अवसरों पर श्वास का वेग बढ़कर मृत्यु तक का कारण बन सकता है। रक्तचाप बढ़ जाता है और श्वास-प्रश्वास खिंचकर होने लगता है। रजःप्रधान प्राण के इस स्वरूप को देखना और समझना चाहिये। इस अवसर में अग्नि तत्व की ही प्रधानता रहती है।

तमःप्रधान प्राण का साक्षात्कार—इसके साक्षात्कार का समय गाढ़ निद्रा या मूर्च्छित अवस्था अथवा शून्य या निर्विकल्प समाधि है। प्रश्न उठता है कि जब निर्विकल्प समाधि सत्त्वप्रधान अवस्था में होती है तब तम और सत्त्व में क्या अन्तर हुआ ?

समाधान—यहां प्राण को क्षुब्ध या कुपित करने वाली विशेष क्रिया का अभाव होता है। सत्त्व-प्रधान प्राण में भी सामान्य सा उतार चढ़ाव होता रहता है, परन्तु तम में यह भी नहीं होता। स्वाभाविक सी गति बनी रहती है, जिसका ज्ञान भी नहीं रहता। इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, मन और बुद्धि अपने व्यापार को बन्द करके शान्त हो जाते हैं। रसों का निर्माण, पाचन क्रियाएं, रक्त-संचार आदि स्वाभाविक कार्य स्वतः होते रहते हैं। इन स्थितियों में प्राण को साधन बनाकर आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है। दूसरों के शरीर में भी प्राण के व्यापार को समाधि द्वारा देखा जा सकता है।

इसके पश्चात् योगी को उदान प्राण में प्रवेश करना चाहिये जिसका स्थान कण्ठ है। यह भी सात्त्विक, राजस्, तामस् भेद से तीन प्रकार का है। इसका सम्बन्ध पांच उपप्राणों और प्राण से भी है।

सत्त्वप्रधान उदान प्राण का साक्षात्कार—मन को समाहित करके इस उदान प्राण के कार्य का साक्षात्कार करना चाहिये। श्वास-प्रश्वास के गमनागमन को, जिसका सम्बन्ध सूक्ष्म प्राणों से है, देखना चाहिये। इससे दोनों आश्रय-आश्रयी भावों के सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है। उद्गार का आकर्षण करके बाहर फेंकने की प्रक्रिया इसी से होती है। यन्त्र-गमन प्राणायाम की विशेष क्रिया भी इसी में होती है। उदान हृदय और मस्तिष्क के सम्बन्ध को बनाए रखता है। श्वसन प्रक्रिया का ज्ञान इसी से होता है। हृदय और फुफ्फुसों से रक्त-रूप आहार ले जाने और लाने की क्रिया भी इसी के द्वारा होती है। योगी के ध्यान की उच्चतम अवस्था में इसकी गति बहुत मन्द हो जाती है और इसका सम्बन्ध उस काल में चेतन से हो जाता है। तब इस प्राण का और चेतन का भेदाभेद प्रत्यक्ष हो जाता है, और दोनों के संयोग में कोई भी व्यवधान दृष्टि-गोचर नहीं होता। उदान का प्रत्यक्षरूप में आत्मा या ब्रह्म के साथ संयोग या व्याप्य-व्यापकभाव का साक्षात्कार होता है। स्पर्श रूप में भी इसकी अनुभूति होती है और चेतन घुला-मिला या तद्रूप प्रतीत होने लगता है, क्योंकि चेतन की यह विशेषता है कि वह 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' हो जाता है। जैसा भी पदार्थ इसके सम्मुख आता है, यह तद्रूप ही भासने लगता है।

रजःप्रधान उदान प्राण का स्वरूप और उसके कार्य—बल-पूर्वक भाषण करने, वमन और उद्गार में रजःप्रधान उदान के कार्य का अवलोकन करना

चाहिये। भोज्य और पेय पदार्थों, लेह्य और चोष्य रसों के ग्रहण के समय उदान का कर्म रज:प्रधान होता है। प्राय: सभी इसका अनुभव करते हैं। थूक निगलने और बाहर फेंकने में इसके कर्म का प्रत्यक्ष होता है। इसमें वायु-तत्त्व की प्रधानता विशेषरूपेण होती है। श्वास-प्रश्वास के द्वारा शरीर का सन्तुलन बनाये रखता है। अधिक शीत लगने से, जब फेफड़ों में कफ जम जाता है, तब घरड़-घरड़ की क्रिया का होना इस रज:प्रधान उदान प्राण का ही कार्य है। दमा और यक्ष्मा के रोगों में भी यही विकृत हुआ होता है। भूख-प्यास लगाना भी इसी का कार्य है। मैथुनकाल और युद्ध के समय में यही कार्यरत होता है। उपरोक्त कार्यों में इस रज:प्रधान उदान प्राण की गतिविधि और कर्म का प्रत्यक्ष ज्ञान करना चाहिये।

तम:प्रधान उदान प्राण का प्रत्यक्षरूप में साक्षात्कार इसकी प्रधानता निद्रा, तन्द्रा और मूर्च्छा में होती है। दूसरे पुरुषों को निद्रा, तन्द्रा या मूर्च्छा की अवस्था में समाधि का विषय बनाकर योगी तम:प्रधान उदान का तथा उसके स्वाभाविक कार्य का साक्षात्कार कर सकता है। उदान प्राण की सब अवस्थाओं तथा कार्यों का साक्षात्कार कण्ठचक्र में होता है, अत: इसका ज्ञान भी योगी को हो जाता है।

व्यान प्राण की सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक अवस्थाओं के विवरण में स्मर्त्तव्य यह है कि सर्वप्रथम वायुमहाभूत प्राण में परिणत होकर व्यानरूप में क्रियाशील हुआ। तदुपरान्त समस्त शरीर में व्याप्त होकर नाना अवस्थाओं और शरीर के विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न रूपों में विभक्त हो गया। शरीर में इसका प्रधान कार्य गति और सामान्य ज्ञान ही है।

सत्त्वप्रधान व्यान प्राण का साक्षात्कार व्यान प्राण में आकाशतत्व प्रधान है। इसी कारण सूक्ष्म व्यान प्राण समस्त शरीर में व्याप्त होकर ज्ञान और गति का वाहक बन जाता है और शरीर के विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न रूपों में कर्मयुक्त हो जाता है। तब क्या प्राण का कोई रूप है ? जब कोई पदार्थ सत्तारूप में वर्तमान होता है तब उसका कुछ न कुछ रूप मानना ही पड़ेगा। भले ही वह नेत्र का विषय न बने परन्तु बुद्धि का विषय होने से उसे रूपवान् तो कहना ही पड़ेगा। जिस पदार्थ को नेत्र नहीं देख सकते उसे बुद्धि साक्षात् कर लेती है। बुद्धि इन्द्रियों से देखे हुए रूपों और अतीन्द्रिय पदार्थों के रूपों, दोनों को बताने में समर्थ है। अत: व्यान प्राण का कुछ न कुछ रूप तो मानना ही पड़ेगा। समाधि की अवस्था में जब सत्त्वप्रधान व्यान के

स्वरूप और कार्य को देखते हैं तो समस्त शरीर में इसका अनुभव होता है। इसमें गति, कर्म और व्यापार की क्रियाओं का भी ज्ञान हो जाता है। पृथ्वी, जल और अग्नि की अपेक्षा सूक्ष्म होने से इन तीनों के कार्यरूप शरीर में यह व्यापक है। इनकी अपेक्षा वायुतत्व की व्याप्ति मानी गई है, आकाश की अपेक्षा नहीं ; क्योंकि आकाशभूत भी तो उत्पन्न ही हुआ है।

वास्तव में कोई भी पदार्थ एक मात्र तत्व से नहीं बना है। प्रत्येक पदार्थ में न्यूनाधिक रूप में दूसरे भी तत्व होते हैं और उनके मध्य कार्य-कारण भाव भी होता है। कार्य में कारण भी सूक्ष्मरूपेण निहित रहता है। फिर सारे तत्वों द्वारा निर्मित पदार्थ स्वयं गति का हेतु नहीं होता। उसमें संयोग से ही गति उत्पन्न होती है। अतः गति के लिये संयोगी पदार्थ अवश्य होना चाहिये। जब प्राण को सत्त्वप्रधान कहा गया है तब गौणरूप से वहाँ रज और तम भी विद्यमान् होंगे ही। ये तीनों गुण न्यूनाधिक मात्रा में हमेशा साथ-साथ रहते हैं और साथ ही चलते हैं। जब शरीर की रचना में सत्त्वप्रधान वायु उपादान कारण बनकर सहकारीरूप में संयुक्त हुआ तब रज और तम भी उसमें गौणरूप से वर्तमान थे। उससे भी अधिक सूक्ष्म आकाशतत्त्व उसमें विद्यमान् था। अकेला सत्त्वप्रधान वायु ही उसमें नहीं था।

रजःप्रधान व्यान प्राण का साक्षात्कार—व्यान समस्त शरीर में क्रियाएं कराता है। यह ज्ञानवाहक, कर्म या गतिवाहक सूक्ष्म तन्तुओं और नाड़ियों को गति प्रदान करता रहता है। प्राण के साथ मिलकर यह नाड़ियों में कम्पन, धड़कन, प्राण और रक्त का संचार करता रहता है। इसकी इस प्रक्रिया का प्रत्यक्ष करें। यह समस्त प्राणों और उपप्राणों के कार्य में सहायक रह कर कार्य कराता है। योगी इसके सर्व धर्म और व्यापारों को शरीर में सर्वत्र प्रत्यक्ष करें। इसकी उपस्थिति में शरीर में जो कार्य हो रहे हैं उनका दिव्यदृष्टि से प्रत्यक्ष करें, अथवा स्पर्श द्वारा साक्षात्कार करें। व्यान और आत्मा की व्याप्ति समस्त देह में है, परन्तु व्यान की व्याप्ति आत्मा से स्थूल है। यह चेतन के अत्यन्त समीप है। अतः दोनों का संयोग भी है और व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध भी है। इसके द्वारा चेतन का प्रत्यक्ष भी सर्वत्र शरीर में होने लगता है। बड़े-बड़े महान् कार्य, जो शरीर द्वारा होते हैं, जैसे युद्ध, क्रीड़ा, रतिकर्म, पर्वतारोहण आदि कष्ट-साध्य कर्मों के समय व्यान की गति बड़ी तीव्र हो जाती है, और समस्त शरीर को संतप्त सा कर

देती है। व्यान की इस स्थिति का भी प्रत्यक्ष करें कि कितनी द्रुत गति से यह कार्य करता है।

तमःप्रधान व्यान का साक्षात्कार—जड़ता, निद्रा अथवा मूर्च्छा की ऐसी स्थिति में जब शरीर और इन्द्रियों के कार्य बन्द या शान्त हो जाते हैं, उस समय योगी ऐसी किसी स्थिति के किसी व्यक्ति को समाधि का विषय बनाकर व्यान की एकाकार गति या स्थिति का साक्षात्कार करे।

स्थूल शरीर में स्थूल वायु-भूत के कार्य, पांच प्राणों के सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से १५ प्रकार के प्राणों तथा साक्षात्कार का वर्णन इसके पूर्व किया जा चुका है। साथ ही पाँचों उपप्राणों का वर्णन भी किया जा चुका है। इनके भी सात्त्विक, राजस् तथा तामस् रूप से १५ भेद हैं। इस प्रकार दोनों के ३० प्रकार के भेद हो जाते हैं। इन तीसों प्रकारों का वर्णन भी किया जा चुका है। इस विज्ञान को स्थूल शरीर में प्रत्यक्ष किया जा सकता है। साधारण व्यक्ति भी इसे स्थूल शरीर में देख सकता है। योगी के लिये यह ३० प्रकार का विज्ञान बड़ा महत्त्व रखता है। इसके ज्ञान के साथ शरीर का भी पूर्ण ज्ञान हो जाता है। इन दोनों का साक्षात्कार करने से वैराग्य और मोक्ष की संभावना हो सकती है। ये दोनों ही हमारे कर्म और भोग, मोक्ष और बन्ध के प्रधान कारण हैं। स्थूल शरीर में जीवन का हेतु होने से इन ३० प्रकार के प्राणों का साक्षात्कार अत्यन्त आवश्यक है। आत्मा और परमात्मा प्राणों के अत्यन्त समीपवर्ती हैं। आत्म ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान में ये प्राण अति महत्त्व-पूर्ण साधन हैं। इस ग्रन्थ का ध्येय भी इन प्राणों का साक्षात्कार कराना ही है। भले ही ये प्राण जड़ और भौतिक ही हैं किन्तु चेतन के समीप होने से ये अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण और प्रत्यक्षीकरण का परम साधन हैं। जो आचार्य सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर को न मानकर केवल स्थूल शरीर, आत्मा और परमात्मा को मानते हैं, उनके लिये भी ये प्राण आत्मा और ब्रह्म ज्ञान की उपलब्धि के लिये बहुत उपयोगी साधन हैं। इसके स्पर्श द्वारा चेतन का साक्षात्कार हो जाता है। इस मानव शरीर में ही प्राण का सबसे अधिक महत्त्व है। इसके स्पर्श द्वारा व्याप्य-व्यापक भाव से चेतन का अनुभव होता है। भोग, अपवर्ग तथा ज्ञान और वैराग्य का यह प्राण ही मुख्य साधन हैं। उपनिषदों में सर्वत्र प्राण की महिमा देखने में आती है। यथा—प्राण के अन्दर ही सब भूत, जड़ और चेतन रमण करते हैं। यही इन सब का आधार बना है। सर्वभूत इसी में प्रवेश और गमन करते हैं। जो इस प्रकार इसे जानता है वह

तत्वज्ञानी और आत्मदर्शी है।' समस्त भूत प्राण में ही खत्म होते हैं और इसी में प्रविष्ट और विलीन हो जाते हैं। जिसने इस तथ्य का अनुभव कर लिया वह पूर्ण ज्ञानी हो जाता है।

इति ब्रह्मनिष्ठराजयोगाचार्योपाधिधारिणा श्री योगेश्वरानन्द सरस्वतिस्वामिना प्रणीते प्राणविज्ञाने प्राण-स्वरूप-वर्णनात्मक नाम पंचमोऽध्यायः समाप्तः।

१. प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते। सर्वाणिह वा अस्मिन् भूतानि विशन्ति सवाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद।

बृहद् उ०—अ० ५, ब्रा० १२, म० १

षष्ठोऽध्यायः

सूक्ष्म भूत या पञ्चतन्मात्राओं की सृष्टि में स्पर्शतन्मात्रा के तीस प्रकार के प्राणों का साक्षात्कार और आत्मानुभूति

शरीर प्राण के आधार पर स्थित है और प्राण शरीर में रहता है। यथा—**"प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितं, शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः।"** (उपनिषद्)

सूक्ष्म भूतों की सृष्टि में सूक्ष्म शरीर में सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीस प्रकार के प्राण हैं। सूक्ष्म शरीर दो अवस्थाओं में रहकर भोग करता है— एक स्थूल शरीरस्थ सूक्ष्म शरीर, दूसरा सूक्ष्म शरीर स्वर्गस्थ या सूक्ष्म जगत् में रहकर भोग करता है। इनमें स्थूल-शरीरस्थ सूक्ष्म शरीर गत जन्म या इस जन्म के कर्मों के फलों को भोग करता है। स्वर्गस्थ या सूक्ष्म जगत् में रहने वाले सूक्ष्म शरीर दिव्य या सूक्ष्म तन्मात्राओं का अपने पूर्व के कर्मों के अनुसार उपभोग करते हैं। स्थूल लोक और स्थूल शरीर को छोड़कर जो सूक्ष्म शरीर के द्वारा सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करते हैं, उनमें दो प्रकार के शरीर होते हैं। एक तो पुनर्जन्म धारण करने वाले और दूसरे मुक्त आत्माएं, जिनकी पुनर्जन्म की इच्छा नहीं होती है। पुनर्जन्म लेने वाले देश, काल, निमित्त और सामग्री की अपेक्षा से स्थूल शरीर को धारण करने के लिये विचरते रहते हैं। दूसरे केवल पंच-तन्मात्राओं के दिव्य भोग भोगने के लिये प्रलयकाल तक उस सूक्ष्म जगत् में रहते हैं। पुनर्जन्म धारण करने वाले कर्म-फल के अनुसार इस लोक में जन्म धारण कर लेते हैं। यदि इस लोक में सूक्ष्म शरीर की बात न मानें तब इस स्थूल शरीर में सूक्ष्म प्राण की बात भी सिद्ध नहीं होती। सूक्ष्म शरीर के बिना पुनर्जन्म भी सिद्ध नहीं होता। अतएव स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर है। इसके ही तीस प्रकार के प्राणों का उल्लेख करेंगे।

चित्र संख्या ३ का विवरण

पंच उपप्राणों का दिग्दर्शन

इस चित्र में कण्ठ से ऊपर सूक्ष्म शरीरगत केवल ५ प्रकार के उपप्राणों के रंग, रूप, कर्म और व्यापार दिखाए गए हैं। शेष शरीर के अन्य भागों में शरीर-व्यापी धनञ्जय का कार्य दिखाया है।

साथ में जो इन १५ प्रकार के उपप्राणों के रंग-रूप दिखाए गए हैं उनके द्वारा उनके सात्विक, राजस्, तामस् भेदों का ज्ञान कर लेना चाहिए। सूक्ष्मशरीर में ३० प्रकार के प्राण एवं उपप्राण सिद्ध होते हैं। यहाँ मस्तिष्क में सूक्ष्मशरीर भी दिखाया गया है और हृदय में कारणशरीर दिखाया गया है।

1
2
3
4
5
3
1
2 4
5
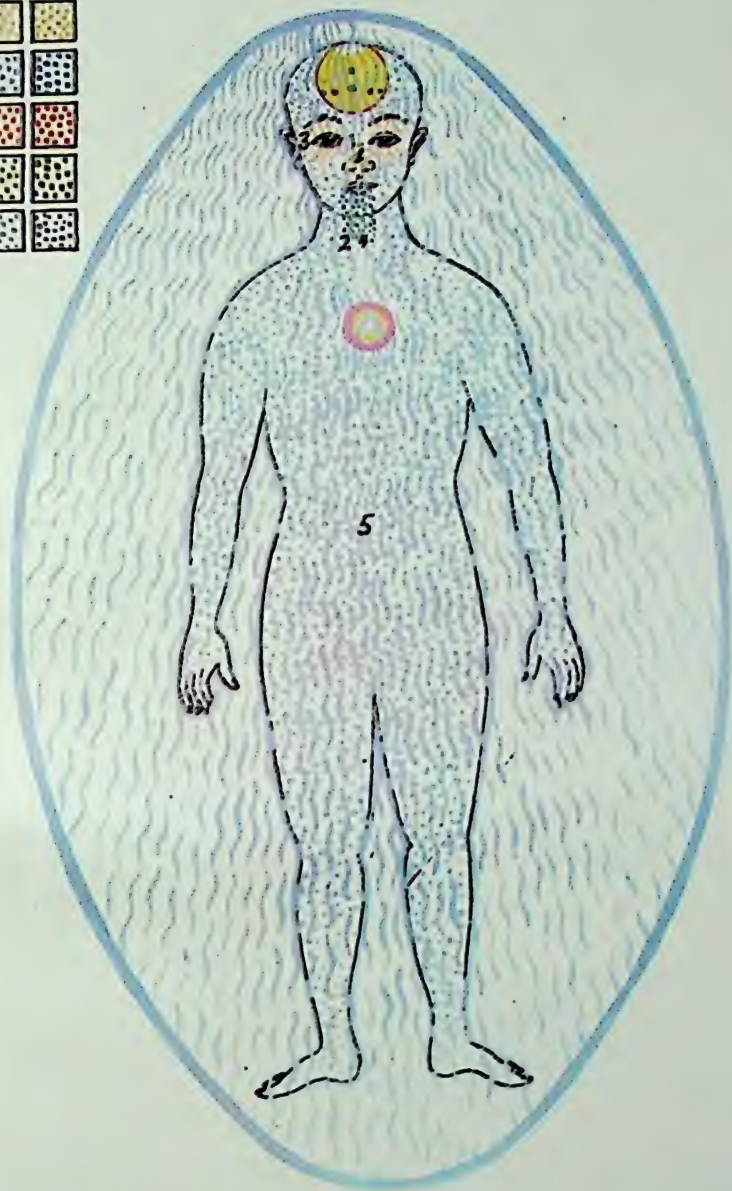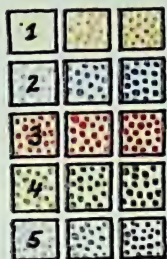
सर्वप्रथम देवदत्त नाम के उपप्राण का सात्त्विक, राजसिक और तामसिक—तीन भेदों से कथन करते हैं क्योंकि इसमें गन्ध-तन्मात्रा की प्रधानता है। ये सारे उपप्राण सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से १५ प्रकार के है। हम क्रम-पूर्वक स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलते हुए उपप्राणों का विज्ञान प्रारम्भ करेंगे। इन पन्द्रह उपप्राणों में देवदत्त सर्वाधिक स्थूल है।

सत्त्वप्रधान देवदत्त उपप्राण का साक्षात्कार—इस उपप्राण का प्रधान **कार्य** छींक है। योगाभ्यासी को छींकें लाकर देखना चाहिये कि इसका स्थूल और सूक्ष्म नासिका पर क्या प्रभाव पड़ता है। तीव्र और तीक्ष्ण गन्ध से प्रायः सभी को छींक आ जाती है, जिसका प्रभाव सूक्ष्म शरीर की नासिका पर भी होता है; क्योंकि सूक्ष्मेन्द्रिय स्थूल घ्राण नासिका में भी वर्तमान है। इन दोनों पर एक साथ प्रभाव पड़ता है। अतः दोनों का भोग एक साथ ही होता है। किन्तु सर्वसाधारण को इसका ज्ञान नहीं होता। योगी को ही समाधि की अवस्था में सूक्ष्म दिव्यगन्ध की अनुभूति होती है। नासिका स्थित 'देवदत्त' उपप्राण का गमनागमन होता रहता है। यह स्थूल और सूक्ष्म गन्ध के सूंघने और सुघाने में सहकारी होता है। इसके बिना गन्ध का गमनागमन नहीं होता। इसकी प्रक्रिया देवदत्त उपप्राण में भी होती रहती है। जिन गन्धयुक्त पदार्थों का सेवन हम करते हैं, उनकी स्थूल गन्ध परिणाम-भाव को प्राप्त होकर सूक्ष्म गन्धतन्मात्रा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। उसे सूक्ष्म शरीर की सूक्ष्मेन्द्रिय उपभोग करती है। इसके सूंघने में देवदत्त उपप्राण की प्रधानता होती है। यद्यपि घ्राणेन्द्रिय ही सूंघती है तथापि सूक्ष्म प्राण के बिना वह उसको आकृष्ट नहीं कर सकती। कई वर्ष पूर्व अमृतसर में मेरे पास मोतीराम की बगीची में एक ऐसा योगी रहता था जिसका सूक्ष्य गन्धतन्मात्रा पर इतना अधिकार था कि किसी भी प्रकार की गन्ध को आकाश की ओर हाथ उठाकर आकर्षण करके दूसरों को सुघा देता था। चाहे कोई किसी भी प्रकार की गन्ध सूंघना चाहता तो वह उसे सुघा देता था। मुझे और मेरे सैंकड़ों प्रेमी भक्तों को अनेक बार उसने नाना प्रकार की गन्ध सुघाई थी। उस योगी के पास कोई ऐसा साधन या पदार्थ नहीं था जिसके कारण उसकी इस गन्ध-आकर्षण शक्ति पर अविश्वास किया जा सके। केवल एक लंगोटी और एक खद्दर की चादर उसकी सम्पत्ति थी। भारत के सन्त, योगी, त्याग और वैराग्य को सदैव बड़ा महत्त्व दिया करते हैं। इस दृष्टान्त से हमारा यह अभिप्राय है कि सूक्ष्म गन्ध सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्मेन्द्रिय नासिकास्थित देवदत्त प्राण द्वारा ही सूंघी जा सकती है। इस उपप्राण का छींक ही

एकमात्र मुख्य धर्म है। इसका कार्य स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों में होता है। स्थूल शरीर के नाश के पश्चात् आकाश में गमन कर जाने पर सूक्ष्म शरीर का सूक्ष्म जगत् में भी नासिकेन्द्रिय में छींक लाना ही इसका व्यापार होता है।

रजःप्रधान देवदत्त उपप्राण का सूक्ष्म शरीर में ज्ञान—जब हम अति तीव्र गन्धों का सेवन करते हैं तब देवदत्त रजःप्रधान होकर छींक उत्पन्न करता है। उस काल में यह अत्यन्त क्षुभित हो जाता है। बहुत छींकें आने पर नासिका, नेत्र, मस्तिष्क, कण्ठ आदि पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उस समय सूक्ष्म शरीर की नासिका पर भी इसका असर होता है। उसमें भी प्रक्रिया होने लगती है। बहुत बार ऐसा भी होने लगता है कि अत्यन्त एकाग्रता होने पर समाधि की अवस्था में योगी जिस गन्ध का ध्यान करता है उसे उस गन्ध की अनुभूति ब्रह्मरन्ध्र में होने लगती है। योगी को यह सिद्धि बहुत वर्ष साधना करने के पश्चात् प्राप्त होती है। युवा अवस्था में लेखक को भी अनेक बार बहुत अभ्यास और साधना के पश्चात् दिव्य गन्ध और दिव्य रस की अनुभूति बहुत बार हुआ करती थी। ये बातें लम्बे अभ्यास और साधना पर ही निर्भर होती हैं। नासिका प्रदेश में देवदत्त उपप्राण का वास और कार्य प्रत्यक्ष करने चाहिएं।

तमःप्रधान देवदत्त उपप्राण का प्रत्यक्ष—निद्रा अवस्था में इसका सामान्य कर्म होता रहता है। देखा गया है कि निद्रा या मूर्च्छा की अवस्था में भी यदि अत्यन्त तीव्र गन्ध नासिका के सामने रख दी जाय तो उससे छींक आकर निद्रा या मूर्च्छा भंग हो जाती है। वैसे छींक आदि के कार्य निद्रा में नहीं होते हैं। इसका साक्षात्कार भी योगी को अन्य व्यक्ति के माध्यम से करना चाहिए। ऐसी अवस्था में यह उपप्राण तमःप्रधान रहता है। आकाश में रहने वाले सूक्ष्म शरीरों पर भी संयम (एक ही पदार्थ पर धारणा, ध्यान, समाधि करने को संयम कहते हैं) के द्वारा देखना चाहिए। आकाश मण्डल में भी देवदत्त का कार्य होता है। हम पुनर्जन्म और स्वर्ग लोक को मानते हैं और अनेक बार अभ्यासियों को सूक्ष्म शरीरों के दर्शन होते हैं। सूक्ष्म शरीर संस्कारों और आत्मा को लेकर विचरते रहते हैं।

इसके पश्चात् साधक समाधि की अवस्था में सूक्ष्म शरीर के कृकल उपप्राण में प्रवेश करता है जिसका स्थान कण्ठ प्रदेश में है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों में इसका कार्य होता है। इसका धर्म या गुण विशेष जम्भाई या उबासी लेना है। सूक्ष्म शरीर आकाश में विचरने वाला या स्वर्ग लोक में निवास करने वाला है। जम्भाई उसे भी आनी चाहिये। उसमें भी सात्त्विक, राजस, तामस् भेद जरूर रहेंगे। भले ही स्थूल शरीर के समान भयंकर और कष्ट-

दायक न हों। त्रित्व गुण-भाव उनमें भी रहना चाहिये, क्योंकि इन्द्रिय-भोग और प्राण तो वहां भी हैं।

सत्त्वप्रधान कृकल उपप्राण का साक्षात्कार—योगी मुख प्रदेश में जब कृकल उपप्राण को अपने संयम का विषय बनाता है तब जम्भाई को उत्पन्न करके उसके कार्य और प्रभाव को स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में साक्षात्कार करता है। इस जम्भाई का कर्म दोनों शरीरों में एक साथ होता हुआ अनुभव होता है। केवल मुख, कण्ठ और सिर में इसकी प्रक्रिया होती है। इसका प्रभाव सूक्ष्म शरीर में भी होता है; क्योंकि जो अंगप्रत्यंग स्थूल शरीर में हैं, वे सूक्ष्म शरीर में भी हैं। ये केवल योगी को ही प्रत्यक्ष होते हैं। सर्वसाधारण के देखने में नहीं आते। यदि योगी स्थूल शरीर में स्थित सूक्ष्म शरीर को छोड़कर आकाश मण्डल में स्थित या विचरने वाले सूक्ष्म शरीर को ध्यान और समाधि का विषय बनावे तो कृकल को और उसके कार्यों को प्रत्यक्ष रूप में साक्षात् कर सकता है।

रजःप्रधान कृकल उपप्राण का सूक्ष्म शरीर में अनुभव—रज की बहुलता में जम्भाई की उत्पत्ति होती है। इसी अवस्था में भूख, प्यास भी जागृत होती है। इस अवस्था में कृकल प्राण का साक्षात्कार होता है। सूक्ष्म शरीर को भी भूख लगती है और इसका प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ता है। स्थूल शरीर के द्वारा खाद्य और पेय पदार्थों का पाक होकर जो स्थूल गन्ध और रस बनता है वह परिणामभाव को प्राप्त होकर गन्ध और रस तन्मात्राओं के रूप में सूक्ष्म शरीर का आहार बनता है। इसी से सूक्ष्म शरीर का रक्षण पोषण होता है। कुछ ऐसा भी अनुभव में आता है कि आकाश मण्डल में जो सूक्ष्म गन्ध और रस के परमाणु द्वयणुक और त्रिसरेणु रूप में विचरते हैं, उनका भी गमनागमन स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में होता है। ये भी शरीरों के साथ सम्पर्क बनाए रखते हैं। इनको भी सूक्ष्म शरीर ग्रहण करता है। ये भी सूक्ष्म शरीर का आहार बनते रहते हैं। इनका प्रवेश दोनों शरीरों में होता रहता है। वास्तव में जितना पोषण स्थूल पदार्थ स्थूल शरीर का करते हैं, उतना सूक्ष्म नहीं कर सकते क्योंकि स्थूल शरीर की उत्पत्ति स्थूल खाद्य-पेय पदार्थों के स्थूल रस से होती है। इसमें उपादान कारण स्थूल पदार्थ ही हैं। अतः स्थूल पदार्थ अधिक पुष्टि का हेतु बनेंगे और सूक्ष्म पदार्थ थोड़े ही दिन तक थोड़ी पुष्टि का हेतु ही होंगे, परन्तु होते अवश्य हैं। यदि योगी को सूक्ष्म गन्ध और रस का ज्ञान और उस पर अधिकार हो जाये तब इन से भी कई-कई मास तक स्थूल और सूक्ष्म शरीर को समाधि

में रह कर जीवित रखा जा सकता है। इस प्रकार का अभ्यास मैं भी युवा अवस्था में बहुत दिन तक करता रहा हूँ। राजस्थान की एक देवी गीता-भवन में आया करती है। उसके विषय में आम चर्चा है कि वह कुछ भी अन्न जल सेवन नहीं करती है। मैंने भी दो तीन वर्ष हुए, उसे 'योग निकेतन, ऋषिकेश' में, लाला सत्य प्रकाश मित्तल द्वारा बुलवाया था। वह एक दिन 'गीता-भवन' से आकर सत्य प्रकाश जी के पास रही थी। उसने कुछ भी खाया पिया नहीं। अन्न, दूध, फल, सब्जी आदि पदार्थ, वह बिल्कुल ग्रहण नहीं करती। लगभग बीस वर्ष हो गये हैं, पानी पीते भी उसे किसी ने नहीं देखा। परन्तु स्नान एक बार प्रतिदिन जरूर करती है। यदि शंका और तर्क की दृष्टि से देखा जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि वह स्नान के समय कुछ जल पी लेती होगी तो यह दूसरी बात है। यदि वह जल से जीवित रहती है तो यह भी तो स्वयं बड़े महत्त्व की बात है। यह भी अलौकिक शक्ति होगी। जल पीकर भी उसमें चलने फिरने, आने जाने की, लोगों से बातचीत करने की शक्ति है। परन्तु यह तो निश्चित बात है कि उसको बहुत वर्षों से लोगों ने खाते पीते नहीं देखा। केवल पवन के आहार पर जीवन धारण करके रहना भी आश्चर्यजनक है। बहुत से लोग उसकी जीवन-चर्या को प्रत्यक्ष देखने के लिये उसके पास रहकर निराश होकर चले आते हैं। उसको खाते पीते वर्षों से किसी ने देखा ही नहीं। यदि वह स्नान करना भी छोड़ दे तो शंका और तर्क की गुंजायश भी नहीं रहती। सर्प, बिच्छू, मेंढक, रीछ आदि जन्तु भी कई-कई मास कुछ नहीं खाते पीते। इसी प्रकार योगी भी कुछ काल या वर्ष खाये पिये बिना जीवित रह सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्थूल शरीर को भी सूक्ष्म आहार पर जीवित रखा जा सकता है।

तमःप्रधान कृकल उपप्राण का सूक्ष्म शरीर में प्रत्यक्ष—निद्रा और मूर्च्छा की अवस्था में छींक आदि कोई व्यापार नहीं होता। इस अवसर पर दूसरे व्यक्तियों को समाधि का विषय बनाया जा सकता है। बहुधा ऐसा भी देखने में आया करता है कि कई-कई दिन छींकें नहीं आया करती। यह तो जागृत अवस्था की बात है, और तव सत्त्व-प्रधान अवस्था होती हैं। इन तीनों प्रकार के कृकल का प्रत्यक्ष करके योगी को कूर्म प्राण में प्रवेश करना चाहिए। कूर्म प्राण के क्षेत्र में पहुंच कर इसके सात्त्विक, राजसिक और तामसिक व्यापारों और उनकी गतिविधि को जानना चाहिये कि इनकी परस्पर की क्रियाओं में क्या अन्तर है और इनके ये कार्य स्वाभाविक हैं या नैमित्तिक हैं ?

सत्त्व-प्रधान कूर्म उपप्राण का साक्षात्कार—कूर्म उपप्राण में रूप तन्मात्रा मुख्य रूप से कार्य करती है क्योंकि यह प्राण नेत्र में रहकर निमेषोन्मेष का कार्य करता है। पलकों का खोलना और बन्द करना इस प्राण के द्वारा ही होता है। परम्परागत कहावत चली आ रही है कि आकाश मण्डल में विचरने वाले देवताओं की पलकें कभी झपकती और बन्द नहीं होती, सदा खुली रहती हैं। कई व्यक्तियों की पलकें निद्रा में खुली रहती हैं परन्तु जागृत अवस्था में निमेषोन्मेष कर्म उनका भी बराबर होता रहता है। यह निमेषोन्मेष स्थूल और सूक्ष्म नेत्रों में स्वाभाविक है। इसको रोका नहीं जा सकता। परन्तु अभ्यास-विशेष से कुछ काल के लिये रोक सकते हैं जैसे त्राटक की अवस्था में कई मिनट और घण्टे भी नेत्र लगातार खुले रहते हैं। आकाश में विचरने वाले सूक्ष्म-शरीराभिमानी देवता, सिद्ध पुरुष ध्यानकाल में आकर अभ्यासी को दर्शन देते हैं और उसे शक्ति प्रदान करते हैं तथा उत्साह, बल, धैर्य और उद्यम बढ़ाते हैं। उनके नेत्र भी सदा खुले हुये देखने में आते हैं। जब हम त्राटक द्वारा किसी अभ्यासी पर प्रयोग करते हैं वह भी खुले नेत्रों से ही होता है। अन्यथा आगे पीछे निमेषोन्मेष कर्म सब में होता ही रहता है। यह उनका स्वाभाविक धर्म है और इसीलिये सूक्ष्म नेत्रों में भी रहना चाहिये। यह कर्म सदा नेत्रों का रक्षण करता है। इनमें तरलता बनाये रखता है। निद्रा, मूर्च्छा, और समाधि की अवस्था में यह व्यापार बन्द रहता है। अभ्यास-विशेष से रोका भी जा सकता है कुछ समय के लिये, सदा के लिये नहीं।

रजःप्रधान कूर्म उपप्राण का सूक्ष्म शरीर में साक्षात्कार—जब तक सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध स्थूल शरीर से रहता है तब तक एक दूसरे से आश्रय-आश्रयी-भाव सम्बन्ध बना रहता है। जो चेष्टाएं स्थूल शरीर और इन्द्रियों में होती हैं, वही सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म इन्द्रियों में भी होती हैं क्योंकि मन और बुद्धि दोनों में समान रूप से कार्य करते हैं। अन्तर केवल शरीर और इन्द्रियों में ही होता है। शंका होती है कि यदि स्थूल शरीर, मन और बुद्धि को सूक्ष्म शरीर से भिन्न मान लिया जाय और इनका उपादान कारण पंचभूतों से उत्पन्न शरीर को ही मान लिया जाय तब क्या आपत्ति होगी ? इस सम्बन्ध में भौतिक विज्ञानवादी, जो केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं, का कथन है कि स्थूल शरीर के मस्तिष्क में बुद्धि के स्थान में ही स्मरण शक्ति उत्पन्न होती है, उसके अतिरिक्त मन व बुद्धि और कुछ नहीं हैं जो कहीं बाहर से आए हों और जिनका उपादान कारण कोई और हो। इसलिये ये लोग पुनर्जन्म, सूक्ष्म जगत् अथवा स्वर्ग लोक या ब्रह्मलोक जैसा कोई

स्थान नहीं मानते। परन्तु मन और बुद्धि सूक्ष्म शरीर में बाहर से आकर सम्मिलित हुए हैं ऐसा अस्मदादि अध्यात्मवादी लोग मानते हैं। मन और बुद्धि का प्रभाव मस्तिष्क में, जहाँ स्मरण शक्ति है, पड़ता है। अतः इस स्थूल शरीर में एक और सूक्ष्म शरीर है जिसमें इन्द्रियें, मन और बुद्धि रहते हैं, जिनका गमनागमन स्थूल शरीर में रहता है। ये ही संस्कारों को लेकर चलते हैं और पुनर्जन्म धारण करते हैं। ये इस स्थूल शरीर में रहकर सूक्ष्म तन्मात्राओं का भोग कराते हैं। स्थूल और सूक्ष्म शरीर के नेत्रों में पलकों का खुलना और बन्द होना परम्परा से ही स्वाभाविक धर्म चला आ रहा है किन्तु सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म इन्द्रियों के भोग स्वर्ग में होते हैं। वैसे इन्द्रियों के धर्म तो सर्वत्र शरीर में रहते ही हैं पर रजःप्रधान अवस्था में निमेषोन्मेष कर्म बहुत प्रधान रहता है और कर्मों के भेद से निमेषोन्मेष में भी अन्तर होता रहता है। सत्त्व और तम में निमेषोन्मेष कर्म का कुछ काल के लिये अभाव भी हो जाता है।

तमःप्रधान कूर्म उपप्राण का सूक्ष्म शरीर में साक्षात्कार—निद्रा अवस्था में इसके विशेष व्यापार का अभाव सा रहता है पर सामान्य रूप में विद्यमान् रहता है; क्योंकि मन और बुद्धि प्रसुप्त से होते हैं। त्राटक के अभ्यास द्वारा इसका साक्षात्कार किया जा सकता है।

सूक्ष्म शरीर में नाग उपप्राण का अनुभव सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से होता है। योगी आकाशमण्डल में सूक्ष्म शरीर को लक्ष्य बनाकर भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है और स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीरगत नाग उपप्राण का भी समाधि द्वारा प्रत्यक्ष कर सकता है। नाग उपप्राण में स्पर्श तन्मात्रा की प्रधानता रहती है।

सत्त्वप्रधान नाग उपप्राण का सूक्ष्म शरीर में साक्षात्कार—उद्गार और हिचकी ये दो इसके विशेष गुण हैं। प्रश्न उठता है कि क्या ये दोनों धर्म आकाश में रहने वाले सूक्ष्म शरीर में भी उत्पन्न होते हैं? इसका समाधान यह है कि स्थूल शरीर में जो उद्गार और हिचकी की प्रक्रिया होती है, वह सूक्ष्मरूप में स्थूल शरीरान्तर्गत सूक्ष्म शरीर में भी होती है। परन्तु जब तक योगसाधन द्वारा ऋतम्भरा बुद्धि उत्पन्न नहीं होती तथा जब तक ऋतम्भरा द्वारा दिव्य दृष्टि उत्पन्न नहीं होती तब तक सूक्ष्म जगत् की सूक्ष्म प्रक्रियाओं को समझा नहीं जा सकता। जब सूक्ष्म इन्द्रियाँ वर्तमान हैं और इनके द्वारा पंचतन्मात्राओं का भोग होता है तब सूक्ष्म शरीर के मुख में हिचकी, उद्गार और एतादृश व्यापार भी होने चाहियें। यौगिक दिव्यदृष्टि से ही ये सब इस लोक और परलोक में देखा जा सकता है।

किन्तु क्या सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत् कोरी कल्पनाएं हैं यां इसमें कुछ यथार्थता भी है? यह कल्पना नहीं यथार्थ है। पर जब तक वस्तुत्व का प्रत्यक्ष नहीं हो जाता तब तक मनुष्य कल्पना का ही आधार लेता है। जब दीर्घकाल के अभ्यास और ज्ञान से प्रत्यक्ष देख लेता है तब कल्पना, कल्पना न रहकर यथार्थ हो जाती है और वस्तुत्व के ज्ञान का आधार बन जाती है। तब सूक्ष्म जगत् में सूक्ष्म शरीर को सविचार समाधि का विषय बनाकर उसमें ही उद्गार और हिचकी को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। जो पदार्थ इन्द्रियों का विषय नहीं बनते वे बुद्धि का विषय बन जाते हैं; इसीलिये उनको अतीन्द्रिय कहते हैं, यथा आत्मा और परमात्मा।

रजःप्रधान नाग उपप्राण का सूक्ष्म शरीर में साक्षात्कार—काम, क्रोध, राग-द्वेष तथा भय बुद्धि में उत्पन्न होते हैं, वे उसके गुण या धर्म विशेष हैं। बुद्धि सूक्ष्म शरीर में प्रधानतत्व है। अतः इन गुणों का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम सूक्ष्म शरीर में ही होता है और दोनों स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों पर उनका प्रभाव पड़ता है। इनके क्षोभ से सूक्ष्म शरीर में भी क्षोभ पैदा होता है। इनका असर नागप्राण पर भी होता है। उद्गार और हिचकी नाग प्राण को भी कुपित कर देते हैं। तब यह रजोगुण से सन्तप्त सा हो जाता है। इन अवसरों पर नागप्राण के कर्म और व्यापार देखने चाहिये। रज की प्रधानता में ही ये दोनों गुण उत्पन्न होते हैं तब ही इनका ज्ञान होता है। यह स्पर्श तन्मात्रा की प्रधानता में होता है। ये दोनों कार्य इसी के हैं। अतः इस लोक और सूक्ष्म जगत् में नागप्राण के दोनों धर्मों—उद्गार और हिचकी का अनुभव होता है।

तमःप्रधान नाग उपप्राण का सूक्ष्म शरीर में साक्षात्कार—निद्रा अवस्था में इसकी तामसिक अवस्था होती है। तमःप्रधान नाग में कोई कार्य-विशेष नहीं होता। जो कुछ कार्य होता है वह रज और सत्वप्रधान नाग में होता है। इनके कार्यकाल में नाग की तीनों अवस्थाओं का साक्षात्कार हो जाता है।

धनञ्जय उपप्राण का सूक्ष्म शरीर में साक्षात्कार—स्थूल शरीर में शोथ होने पर इसकी प्रतीति होती है। इसे समाधि का विषय बनाकर अनुभव भी किया जा सकता है। परन्तु सूक्ष्म शरीर में इसका कार्य देखने में नहीं आता है। जब स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर को माना जाता है तब स्थूल शरीर के किसी अंग में आघात से शोथ होने से त्वचा तथा मांस-पेशियों में फुलाव या सूजन हो जाती है। स्थूल शरीर के उस स्थान में संकोच और विकास धर्म होने के कारण सूक्ष्म शरीर

के उस स्थान में भी संकोच और विकास होने चाहिएं, क्योंकि सूक्ष्म शरीर वहां वर्तमान है। अब रही आकाश में विचरने वाले या स्वर्ग-लोक में रहने वाले सूक्ष्म शरीरों की बात। यदि वहां भी किसी पदार्थ से सूक्ष्म शरीर में टक्कर लग जाये तो उसमें भी कुछ न कुछ आघात या प्रतिक्रिया होनी ही चाहिये और विकार भी होगा ही। यही उसका शोथ कहलायेगा। परन्तु हम यह भी सुनते आ रहे हैं तथा शास्त्रों में भी पढ़ते आ रहे हैं कि स्वर्ग में दुर्घटना तथा तज्जन्य दुःख या क्षोभ नहीं होते, वहां तो सुख ही सुख है। यह बात कुछ असम्भव और अस्वाभाविक लगती है कि स्वर्ग में सुख हो और दुःख न हो। इन्द्रियों के भोग काल में कुछ न कुछ दुःख होगा ही।

सत्वप्रधान धनञ्जय उपप्राण का सूक्ष्म शरीर में कार्य और उसका तत्व ज्ञान—यह सर्वदेह व्यापी है। इसमें आकाश तत्व प्रधान है। जीवन काल में जागृत अवस्था में अनेक बार स्थूल शरीर में आघात लगने से जख्म भी हो जाते हैं। हम उनको आँखों से प्रत्यक्ष देखते हैं। उस अवसर पर एकाग्रमन करके शरीर में धनञ्जय को प्रत्यक्ष करना चाहिये। उसमें आकाश तन्मात्रा की प्रधानता होती है। इसीलिए यह सूक्ष्म शरीर को व्याप्त करके रहता है। अतः योगी को दिव्यदृष्टि से इसका साक्षात्कार करना चाहिये और स्थूलदेह के अन्दर सूक्ष्म शरीर में और आकाशमण्डल के सूक्ष्म शरीर में भी धनञ्जय का निर्भ्रान्त साक्षात्कार करना चाहिये।

रजःप्रधान धनञ्जय उपप्राण का सूक्ष्म शरीर में प्रत्यक्ष ज्ञान—इस रजःप्रधान अवस्था में ही शोथरूप गुण की उत्पत्ति होती है क्योंकि यही शोथ में क्रिया उत्पन्न करता है। स्थूल शरीर में शोथ होने पर साथ ही सूक्ष्म में भी होगा क्योंकि दोनों का संयोग सम्बन्ध और व्याप्य-व्यापक रूप में सम्बन्ध है। आकाश में या अन्तरिक्ष में रहने वाले सूक्ष्म शरीरों में भी धनञ्जय का कार्य होगा परन्तु इसमें इतना सूक्ष्म रूप से शोथ होगा कि सिवाय योगी के अन्य को पता नहीं चल सकता।

तमःप्रधान धनञ्जय का सूक्ष्म शरीर में दर्शन—सूक्ष्म शरीर में जब धनञ्जय का कोई कार्य न हो तब इसमें शोथ-रूप धर्म उत्पन्न न होने से तमोमयी अवस्था बराबर बनी रहती है। रज की प्रधानता ही शोथ में कारण होती है। तम की अवस्था में धनञ्जय एकसमान रहता है।

इस प्रकार सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से ये उपप्राण सूक्ष्म शरीर में १५ प्रकार के हो जाते हैं। इनके सब कर्म स्थूल शरीरगत व्यापार के समान होते हैं।

चित्र संख्या ४ का विवरण

अहंकार की सृष्टि में सूक्ष्मशरीरगत पाँच प्रकार के प्राणों का साक्षात्कार

सूक्ष्मशरीर में पाँच प्रकार के प्राणों को उनके सात्विक, राजस्, तामस् भेदों से समस्त १५ प्रकार के प्राणों के रंग, रूप, गति और व्यापार दिखाते हुए दर्शाया गया है। सम्पूर्ण शरीर में रेखाओं के रूप में सब प्राणों का वाहन स्व-स्व स्थान में दिखाया गया है। प्रत्येक प्राण के भिन्न-भिन्न रूप-रंग दिखाए हैं ज़ो चार्ट में १५ प्रकार के हैं।

यह शरीर सूक्ष्म होने से आकाश में ही गमन और निवास करता है। स्थूल शरीर के मध्य में भी वर्तमान रहकर इसके भोग और अपवर्ग का हेतु होता है।

1
2
3
4
5
4
3
5
5
2
1
5
5
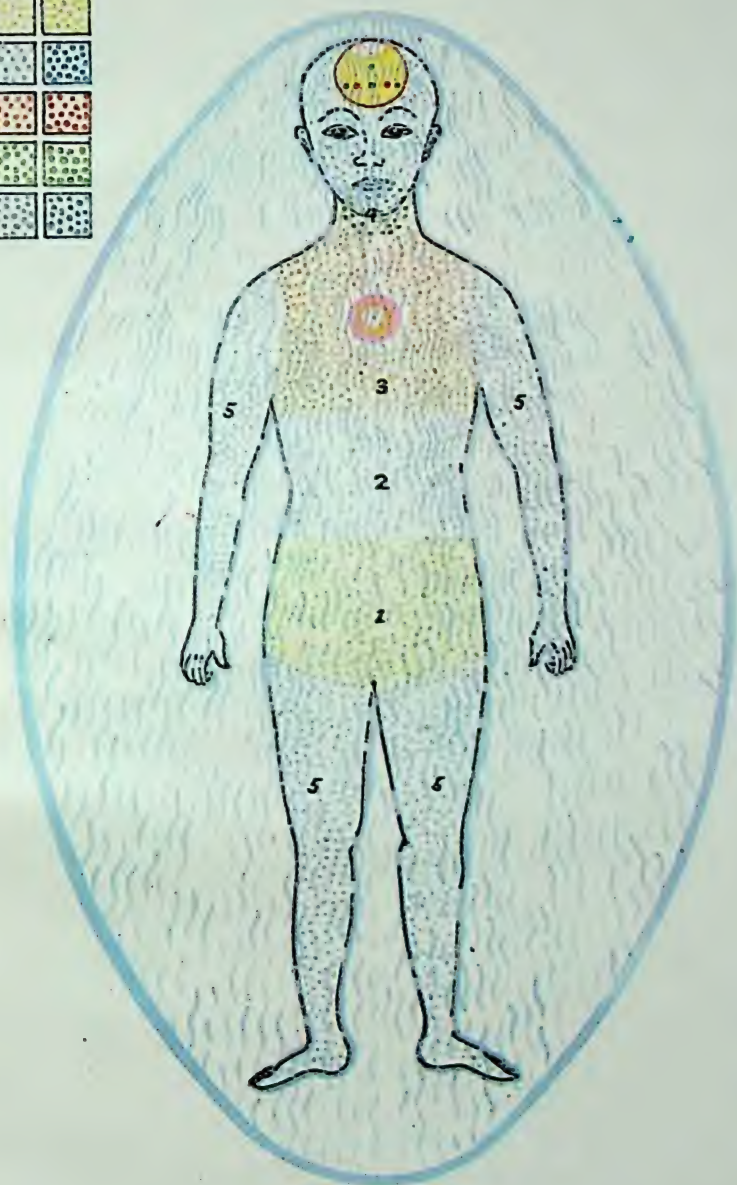
परन्तु आकाशमण्डल और सूक्ष्म लोक में कुछ अन्तर होता है। सूक्ष्म शरीर के भोगों का इनकी अपेक्षा स्थूल शरीर के सूक्ष्म शरीर में भी भोगों का भेद होता है। इन उपप्राणों को माध्यम बनाकर ब्रह्मरन्ध्र में आत्मसाक्षात्कार भी योगी कर लेता है।

अब सूक्ष्म शरीर में स्पर्शतन्मात्रा के कार्यरूप पांच प्राणों के साक्षात्कार का उल्लेख करते हैं। इनमें सर्वप्रथम अपान प्राण का कथन करेंगे ; क्योंकि इसमें गन्ध तन्मात्रा भी कार्य करती है। इसके सब कार्य नीचे गमन कराने के होते है। नाभि से पादतल तक यह कार्य करता है।

सत्त्वप्रधान अपान का सूक्ष्म शरीर में कार्य और साक्षात्कार—ध्यान काल में योगी जब सूक्ष्म शरीर में अपान को अपने ध्यान का लक्ष्य बनाता है तब उससे पूर्व स्थूल शरीर के अपान को भी अपने ध्यान का विषय बनाता है। तत्पश्चात् आगे बढ़कर सूक्ष्म शरीर को अपने ध्यान का विषय बनाकर साक्षात्कार करता है। उसमें भी उसे स्थूल शरीरस्थ अपान के समान सब कार्य देखने में आते हैं। सूक्ष्म शरीर में इसका कार्य-क्षेत्र नाभि से पैर के पंजे तक है। स्थूल शरीर में रहते, आकाश में अथवा सूक्ष्म जगत् में विचरते भी इसके सब कार्य होते रहते हैं। सूक्ष्म जगत् या स्वर्ग लोक में कुण्डलिनी शक्ति, प्राणोत्थान और चक्र-विज्ञान की बात सिद्ध नहीं होती, क्योंकि इनका सम्बन्ध स्थूल शरीर से है। उनकी उत्पत्ति भी स्थूल शरीर में होती है। अत: यहां इनके विज्ञान में अपान सहायक रहता है। इनके विज्ञान की सूक्ष्म जगत् में आवश्यकता भी नहीं रहती। ये सब पदार्थ उसमें होते भी नहीं। ज्ञान-प्राप्ति का मुख्य साधन स्थूल जगत् और स्थूल शरीर ही हैं। पदार्थों का साक्षात्कार भी इसी में होता है। प्रकृति के सर्वकार्यात्मक पदार्थों, आत्मा और परमात्मा के ज्ञान का साधन भी स्थूल शरीर ही है। सूक्ष्म शरीर तो केवल सूक्ष्म जगत् में भोगों का प्रधान साधन होता है। उसमें भोगों की प्रधानता है, ज्ञान की नहीं। केवल इन्द्रियों द्वारा भोग ही होते हैं। अत: अपान के स्थान में गुदा और उपस्थ द्वारा मल-मूत्र का त्याग या विसर्जन होता है। इन दोनों इन्द्रियों में अपान की प्रधानता से ये कार्य तो होते ही हैं। यही दोनों इन्द्रियों के भोग का हेतु होता है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या उपस्थ इन्द्रिय का कर्म स्थूल शरीर के समान ही होता है या कुछ अन्तर होता है, क्योंकि स्थूल देह में यह इन्द्रिय सन्तानोत्पत्ति का कार्य भी करती है ?

समाधान—सूक्ष्म जगत् में सन्तानोत्पत्ति की कोई बात नहीं। उससे तो केवल मूत्रविसर्जन का ही कार्य होता है। ये दो ही प्रधान कार्य इन इन्द्रियों के हैं। यह

अपान द्वारा ही होते हैं। रज-वीर्य द्वारा सन्तानोत्पत्ति आदि कोई कार्य वहां नहीं होता। वरन् इस लोक और उस लोक में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

रजःप्रधान अपान का सूक्ष्म शरीर में प्रत्यक्ष ज्ञान—जितने कार्य रजःप्रधान अपान से स्थूल शरीर में होते हैं उतने सूक्ष्म शरीर के अपान में नहीं होते ; क्योंकि स्थूल शरीर में चक्र-विज्ञान, कुण्डलिनी-विज्ञान, प्राणोत्थान, गर्भस्थ शिशु विज्ञान, मैथुन विज्ञान आदि कार्य होते हैं किन्तु ये सूक्ष्म शरीर में न होने से अपान वहां केवल सामान्य कार्य ही करता है। वहां ये कार्य और विज्ञान नहीं होते। अपान के सामान्य कार्य कर्मेन्द्रिय द्वारा मल-मूत्रविसर्जन ही होते हैं। जैसे निद्रा अवस्था में स्थूल शरीर में सामान्य कर्म होते रहते हैं उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में भी रजःप्रधान अपान का कार्य होता रहता है। स्थूल शरीर के अन्दर सूक्ष्म शरीर और आकाश में विचरने तथा स्वर्ग लोक में बसने वाले सूक्ष्म शरीरों के भोग में कुछ न कुछ अन्तर तो रहता ही है।

तमःप्रधान अपान प्राण का सूक्ष्म शरीर में साक्षात्कार—निद्रा में इसकी स्थिरता बनी रहती है। वहां इसका एकाकार प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। इस काल में इन्द्रियों के व्यापार बिल्कुल बन्द हो जाते हैं। सूक्ष्म शरीर की स्थिति निद्रा में और परलोक में एकसमान रहती है और अपान का सम्बन्ध समान प्राण से भी बना रहता है। इसलिये अपान का समान में प्रवेश शीघ्र हो जाता है। समान में योगी का प्रवेश होने से इसके सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक कार्यों का साक्षात्कार होने लगता है ; क्योंकि यह भी त्रिगुणात्मक है। यह गन्ध और रस के सूक्ष्म भाग को विभक्त करके शरीर में सर्वत्र भेजता रहता है। आहार व पाचनादि कार्य इसी के द्वारा होते हैं और स्थूल शरीर के समान सूक्ष्म शरीर में भी होते रहते हैं।

सत्त्वप्रधान समान प्राण का सूक्ष्म शरीर में साक्षात्कार—योगी को समाधि में स्थूल शरीर के क्षेत्र से ऊपर उठकर सूक्ष्म शरीर के समान प्राण में प्रवेश करके सत्त्वप्रधान समान प्राण का अनुभव करना चाहिये कि स्थूल और सूक्ष्म शरीर के इस प्राण में क्या अन्तर है ? क्या यह स्थूल के आधार पर कार्य करता है या स्वयं अपनी सत्ता से ? दोनों के स्वरूप और कार्य-कारण में क्या भेद है जिसके कारण यह अपनी सत्ता पृथक् रखते हुए कार्य कर रहा है ? इस शरीर और सूक्ष्म शरीर में क्या भेद है ? इसके भेद से उसमें कोई भेद होता है या एक समान ही कर्म-भोग होता है ?

समाधान—सूक्ष्म जगत् में एक तारतम्य से भोग रहते हैं। वहां संकल्प-मात्र से भोगों की उपलब्धि हो जाती है, जबकि स्थूल शरीर में भोग श्रम-साध्य

रहते हैं। यौगिक शक्ति द्वारा दोनों लोकों के सूक्ष्म शरीर के समान प्राण का साक्षात्कार करना चाहिये। इसके विना नाभि से ऊपर और नीचे के कार्य नहीं होते। इन सब कार्यों का आधार समान प्राण ही है। समान को हृदय के साथ स्पर्श कराते हुए आत्मा का स्पर्श योगी को करना चाहिये। तब ही प्राण के द्वारा आत्म-साक्षात्कार में सफलता मिलेगी। जब सत्वप्रधान समान प्राण का प्रशान्त-वाहिता स्थिति के रूप में हृदयस्थ आत्मा के साथ सम्पर्क बनेगा, तभी आत्मा के साथ स्पर्श द्वारा उसकी अनुभूति होगी।

रजःप्रधान समान का सूक्ष्म शरीर में साक्षात्कार—समान प्राण नाभि से ऊपर तक कार्य करता है। इसका सम्बन्ध अपान और प्राण के साथ भी रहता है। इस लोक और परलोक में यह सूक्ष्म शरीर के भोगों को कराता है; क्योंकि प्राण ही शरीर में गति का हेतु है। शरीर के इस देश में यह सबसे अधिक ग्रन्थियों से कार्य कराने में समर्थ है। इसमें रस तन्मात्रा की ही प्रधानता रहती है। स्थूल शरीर के कार्यों से सूक्ष्म शरीर के कार्यों का अन्तर होता है। वे सूक्ष्म होते हैं, और सूक्ष्म शरीर के सूक्ष्म कार्यों को योगी ही प्रत्यक्ष कर सकता है। अन्य साधारण मनुष्य की समझ में यह विज्ञान नहीं आ सकता। स्थूल शरीर के तथा सूक्ष्म शरीर के कार्य्यों में भी न्यूनता, अधिकता या समानता होती रहती है। परन्तु हमारी दृष्टि में सूक्ष्म जगत् और स्वर्ग लोक में कोई अन्तर नहीं है। अन्य आचार्यों ने इन दोनों में अन्तर माना है। सूक्ष्म जगत्, स्वर्गधाम, दिव्य लोकों अथवा ब्रह्मलोक में ज्ञान, ध्यान आदि विशेष कर्म नहीं करने होते। वहां संकल्प-मात्र से सब कुछ उपलब्ध हो जाता है। इस लोक के समान उन लोकों में व्यवहार या कार्य नहीं होता अपितु समान प्राण का एक जैसा ही कार्य होता है। गन्ध, रस आदि भुक्त पदार्थों का विभाजन भी सूक्ष्म शरीर में जरूर होता है। जीवन और जीवनी शक्ति सूक्ष्म शरीर में भी काम करती है। योगी को समान प्राण का साक्षात्कार इस लोक और परलोक में करना चाहिये। समान प्राण द्वारा आत्मा और परमात्मा दोनों का स्पर्श द्वारा ज्ञान हो सकता है। यह देखा गया है कि एक बार आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान हो जाने पर फिर किसी पदार्थ को माध्यम बनाकर परमात्मा का स्पर्श द्वारा ज्ञान किया जा सकता है। जब तक ब्रह्म का प्रत्यक्ष नहीं होता तभी तक अभ्यासी साधक भिन्न-भिन्न साधनों और अवलम्बनों का सहारा लेता है। दर्शन और साक्षात्कार हो जाने पर सब पदार्थों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप में भगवान् के साथ दिखाई देने लगता है। फिर ईश्वर को देखने के लिये किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं रहती।

तमःप्रधान समान का सूक्ष्म शरीर में साक्षात्कार—निद्रा अवस्था में तमःप्रधान समान प्राण सूक्ष्म शरीर में समान-भाव से कार्य करता रहता है। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि रात्रि को सोते हुए मनुष्य को अचानक कालरा (हैजा) हो जाता है अर्थात् समान प्राण कुपित होकर रजोगुणी हो जाता है और तब कभी-कभी मृत्यु का हेतु भी हो जाता है। परन्तु उस समय निद्रा नहीं, जागृत अवस्था होती है। इसका प्रभाव सूक्ष्म शरीर के समान प्राण पर भी भयंकर होता है। इसके विरुद्ध तमःप्रधान समान में निद्रा दोनों लोकों में सूक्ष्म शरीर में आती है और कुछ कार्य का अन्तर भी होता है क्योंकि इस लोक में स्थूल शरीर साथ होता है और उसके भोगों का प्रभाव भी पड़ता है तथा इसके अपने भोगों का भी होता है। प्रश्न उठता है कि क्या स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के भिन्न-भिन्न भोग एक साथ एक काल में स्थूल शरीर में नहीं भोगे जा सकते? उत्तर यह है कि अगर दोनों अलग-अलग कर्म करें और अलग-अलग उनके भोग प्राप्त करें तो दोनों ही के कर्मों और भोगों में अन्तर हो जायेगा और दोनों का विरोध होने से विरोधाभास दोष उपस्थित होगा। अतः इस दोष का निवारण करने के लिये यह मानना पड़ेगा कि स्थूल शरीर में भी सूक्ष्म शरीर ही कर्म और भोग को करःता है। निद्रा अवस्था में जब कि इन्द्रियों के सब कार्य बन्द हो जाते हैं तब सूक्ष्म शरीर के ही द्वारा स्थूल में सामान्य पाचन आदि क्रियाएं होती रहती हैं। निद्रा काल में स्वप्न भी आता है, स्वप्न में भी सूक्ष्म शरीर में स्मरण रूप कार्य और भोग होता है। भले ही पाकादि कार्य स्थूल शरीर का ही है परन्तु वह भी सूक्ष्म शरीर के संयोग से होता है। स्थूल शरीर में रहकर सूक्ष्म जगत् के सूक्ष्म शरीर को समाधि का विषय बनाकर उसका सब प्रकार का ज्ञान करना चाहिये। योगी के लिये सूक्ष्म जगत् की दूरी भी कुछ नहीं है। उसे समीप की वस्तु के समान दूरस्थ वस्तु भी प्रत्यक्ष हो जाती है। देश, काल और दूरी का भेद भी मिट जाता हैं। दिव्यदृष्टि से इस अलौकिक विज्ञान का योग-साधना द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिये।

समान प्राण के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये योगी को हृदय प्रदेश के प्राण में प्रवेश करना चाहिए। इस सूश्म शरीर के सूक्ष्म प्राण में प्रवेश होने पर प्राण की सात्त्विक, राजसिक और तामसिक अवस्थाओं का साक्षात्कार करना चाहिये। स्थूल और सूक्ष्म शरीरों का व्याप्य-व्यापक-भाव सम्बन्ध बना हुआ है। एक के गतिशील होने पर दूसरा भी गतिशील हो जाता है। कुछ कर्म और व्यापार दोनों के एकसमान ही होते हैं केवल स्थूल और सूक्ष्म का अन्तर होता है। स्थूल प्राण स्थूल वायु-भूत का कार्य है और सूक्ष्म प्राण सूक्ष्म वायुभूत स्पर्श तन्मात्रा का कार्य है। सूक्ष्म प्राण स्थूल प्राण के

गर्भ में रहता है और यह सूक्ष्म शरीर को गतिशील बनाये रखता है। स्थूल वायु का कार्य रूप प्राण स्थूल शरीर को गतिशील बनाए रखता है।

शंका—यदि दोनों प्राण अपने-अपने शरीरों को क्रियाशील रखते हैं तब भोग भी दोनों के पृथक्-पृथक् होने चाहिए ?

समाधान—आहार तो दोनों के पृथक्-पृथक् ही होते हैं और पुष्टि अलग-अलग होती है। स्थूल शरीर का आहार पचने के पश्चात् परिणाम-भाव को प्राप्त होकर रसादिरूप सूक्ष्म भाव में आकर सूक्ष्म गन्ध, सूक्ष्म रस आदि तन्मात्राओं के रूप में परिणत हो जाता है। सूक्ष्म शरीर उन तन्मात्राओं के आहार को ग्रहण करता है। उसके जीवन का आधार इस प्रकार से रस, गन्ध तन्मात्राएं हो जाती हैं। इस स्थूल शरीर में स्थूलभूतों के आहार—खाद्य, पेय, चोष्य, लेह्य आदि परिणत होकर सूक्ष्म शरीर को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार दोनों की ही तृप्ति हो जाती है। सूक्ष्म शरीर में दोनों के ग्रहण करने और भोगने की शक्तियाँ हैं। जब यह आकाश मण्डल में चला जाता है तब आकाश में व्याप्त तन्मात्राओं से ही इसकी तृप्ति होती है। योगी इसकी दोनों प्रकार से ही तृप्ति होते देखता है और भी प्रत्यक्ष रूप में अनुभव करता है।

सूक्ष्म शरीर के प्राण का सात्त्विक रूप में प्रत्यक्ष—योगी जागृतकाल में जब समाधि की अवस्था में सूक्ष्म प्राण को अपने प्रत्यक्ष का विषय बनाता है उस समय इसे स्थूल का भान जाता रहता है और अपने को सूक्ष्म शरीर में समझने लगता हैं। उस समय सूक्ष्म-प्राण की प्रक्रिया को प्रत्यक्ष अनुभव करता है। तब हृदय के साथ इसका सम्बन्ध होने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे जीवन का सर्वस्व आधार ही प्राण है। इसका कार्य फुफ्फुसों में भी होता हुआ प्रतीत होता है। श्वसन क्रिया अत्यन्त मन्द पड़ जाती है। जागृति काल में जितने समय में श्वास-प्रश्वास १२ या १५ बार आते जाते हैं समाधि की अवस्था में उतने में एक चौथाई के लगभग रह जाते हैं। उस मन्द-मन्द प्राण का स्पर्श यदि आत्मा के साथ किया जाय तो आत्मा के स्पर्श की अनुभूति भी होने लगती है। उस समय जो आनन्द का अनुभव होता है, वह अनिर्वचनीय होता है ("न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा, स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते") उसे वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता। यह अनुभूति की स्थिति है। यह नवीनतम और अलौकिक अवस्था है। इस अलौकिक और अभूतपूर्व स्थिति का कथन करने का प्रयत्न तो योगी करता है, परन्तु भाषा उसका साथ नहीं देती। भावों की गहराई

और सूक्ष्मता के प्रकटीकरण में समुचित और पर्याप्त शब्दों के अभाव के कारण वह मौन रह जाता है। चिरकाल के अनन्तर आत्मनिष्ठ योगी का जब समाधि से व्युत्थान होता है तब वह उस अलौकिक स्थिति से लौकिक स्थिति में लौटता है, उस समय उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो वह शान्ति-प्रद और अनन्तानन्द के गहनतम जल में गोता लगाकर बाहर आया है। योगी इस अलौकिक और गहनतम समाधि की स्थिति में प्रवेश-प्राप्त्यर्थ शनैः-शनैः प्रयत्न करता है। उसके श्वास-प्रश्वास की गति उत्तरोत्तर मन्द होने लगती है और अन्त में सूक्ष्मतम हो जाती है। जब उसका चित्त दृढ़ता-पूर्वक समाधिस्थ होता है तब वह ऐसा अनुभव करने लगता है मानों उसके जीवन का स्रोत उसके समाहित चित्त रूपी गहन गुफा से प्रवाहित हो रहा है और उसके प्राण अत्यन्त संकुचित होकर उसी में लीन होना चाहते हैं। तत्पश्चात् जब व्युत्थान की अवस्था आती है तब वह शनैः शनैः उस हृदयरूपी गुहा से बाहर आने लगता है। उस काल में सूक्ष्म शरीर के प्राण का भी भान सा रहता है और कारण शरीर के चित्ताकार मण्डल में सूक्ष्म से भी सूक्ष्म जीवन का स्रोत सा अति सूक्ष्म रूप में प्रवाहित होता हुआ प्रतीति में आता रहता है। यही सूक्ष्म प्राण है। यही चित्त की सर्वप्रथम वृत्ति या जीवनी शक्ति उद्भूत होकर सम्पूर्ण शरीर को जीवन-दान करती है। यह जीवनी-शक्ति आत्मा से सम्पर्क बनाये रखती है। दोनों के बीच कोई व्यवधान नहीं रहता। यहां प्राण और आत्मा की भेद-बुद्धि समाप्त हो जाती है। आत्म-साक्षात्कार की यह प्रक्रिया सर्वोत्तम और श्रेष्ठ है। योगी जब प्राण के माध्यम से उपरोक्त विधि से आत्म-साक्षात्कार करता है तब आत्मा में वह ऐसा अनुभव करने लगता है मानो "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" हो गया हो। अर्थात् प्राण ही आत्म-रूप या आत्मा ही प्राण-रूप हो गया है। उस काल में रूपादि समाप्त हो जाते हैं। केवल आनन्द-रूप चेतन के स्पर्श की अनुभूति रह जाती है। इस अवस्था में प्राण ही चेतन के स्पर्श का सुखद आनन्द चित्त द्वारा अनुभव कर रहा होता है। कभी-कभी ध्याता ध्यान-रूप अथवा ध्येय-रूप अनुभव में आने लगता है। कभी निर्विचार समाधि और कभी सविचार समाधि की अवस्था हो जाती है। प्राण कारण रूप प्रकृति के साथ स्पर्श-रूप में मिलकर साक्षात्कार का हेतु बन जाता है और अपने उपादान-रूप प्रकृति तथा निमित्त कारणरूप सर्वव्यापक चेतन के साक्षात्कार में प्रधान साधन बन जाता है। "ज्योतिषां ज्योतिः" न रहकर प्राणस्य प्राणःरूप प्रतीत होने लगता है, क्योंकि सर्वप्रथम प्राण वहीं से उत्पन्न होकर चला था और शनैः शनैः परिणाम-भाव को प्राप्त होता हुआ वायु-रूप महाभूत में पहुंचा और फिर शरीर में स्थूल-प्राण बन गया। यह क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने का है और उसी प्रकार क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल की ओर आने का है। यह प्राण-विद्या बड़ी गहन और

सूक्ष्म है। यह सही मार्ग पर ले जाकर व्यष्टि और समष्टि चेतन का निर्भ्रान्त साक्षात्कार करा देती है। प्राण शक्ति प्रकृति की सर्वप्रथम आद्या-शक्ति है। अतः इसके द्वारा चेतन का निर्भ्रान्त साक्षात्कार होता है। ज्योति के द्वारा तो योगी को कभी-कभी भ्रान्ति भी हो जाती है कि यह ज्योति मन की है, बुद्धि की है, चित्त की है, आत्मा की है या परमात्मा की है? परन्तु प्राण में यह भ्रान्ति कम ही होती है। अतः ज्योति की अपेक्षा चेतन के साक्षात्कार का प्राण ही सर्वश्रेष्ठ साधन है।

रजःप्रधान सूक्ष्म प्राण का सूक्ष्म शरीर में साक्षात्कार—स्थूल शरीर में जागृत अवस्था में योगी को अनेक प्रकार के कार्य और प्राणों में क्षोभ की स्थिति देखने में आती है। इनका प्रभाव सूक्ष्म शरीर के सूक्ष्म प्राण पर भी पड़ता है और तब परिणामतः यह कुपित और क्षुब्ध हो उठता है। फलतः इसके कार्य और व्यापार में भी परिवर्तन हो जाता है। यदि उस काल में सूक्ष्म शरीर के सूक्ष्म प्राण को देखा जाय तो योगी को उसके क्रियात्मक व्यापार और सूक्ष्म रूप का पता चल सकता है। तथा समाधि की अवस्था में आकाश में गमन करने वाले सूक्ष्म शरीरों की गतिविधियां देखी जायें तो उनके रजःप्रधान प्राण का भी ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार कर्मशील व्यक्तियों के स्थूल शरीर के प्राण को लक्ष्य बनाकर उसके सूक्ष्म प्राण का स्वरूप भी देखा जा सकता है। हृदय की गति से सूक्ष्म शरीर के प्राण का भी ज्ञान हो जाता है परन्तु उस समय ध्यान एकाग्ररूप से उस ओर ही होना चाहिये। सूक्ष्म प्राणायाम का अभ्यास शनैः-शनैः परिपक्व हो जाने पर श्वास-प्रश्वास की क्रिया को ध्यान का विषय बनाकर प्राण का स्वरूप देखा जा सकता है। इस प्रकार सूक्ष्म प्राण के प्रत्यक्ष करने के अनेक साधन हैं। यह प्राण रूप-तन्मात्रा के साथ घुल-मिल कर जीवन को स्थायी बनाये रखता है। रूप तन्मात्रा स्पर्श तन्मात्रा की सहकारी रहकर सूक्ष्म शरीर में जीवन और गति का आधार बनी रहती है। तेज और प्राण सूक्ष्म शरीर में जीवनी शक्ति का संचार करते हैं। स्थूल हृदय की धड़कन सूक्ष्म शरीर को भी जागरित और चेतन सा बनाये रखती है। इसी कारण हृदय अहर्निश कर्मशील बना रहता है। कभी निष्क्रिय नहीं होता। इसके साथ चेतन का संयोग सदैव बना रहता है। जब तक चेतन का संयोग-सम्बन्ध रहेगा, सूक्ष्म प्राण निरन्तर कार्य-शील बना रहेगा। उसके आश्रित ही ये दोनों अपना कार्य करते रहते हैं मानो दोनों का परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध हो। यह सूक्ष्म जगत् में रहने वाले शरीर के हृदय में भी रहकर समस्त शरीर को चलाता है तथा उसके जीवन का प्रसार करता रहता है। इन्द्रियों को भोग प्रदान करने में भी सहयोगी रहता है। बिना प्राण के सूक्ष्म शरीर का कोई भी कार्य सम्पन्न

नहीं हो सकता। यही उसमें गति और भोग के सम्पादन में सहायक रहता है। यदि प्राण का संयोग आत्मा से बनाया जाये तो उसे भी छूकर बता देता है। कोई भी पदार्थ आत्मा के इतना समीप नहीं है जितना प्राण है। इसके द्वारा आत्म-प्रत्यक्ष होता है।

तमःप्रधान सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म प्राण—तमःप्रधान अवस्था में इन्द्रियों के व्यापार भी शान्त हो जाते हैं, किसी प्रकार की भोग-प्राप्ति नहीं होती। अचेतन सी अवस्था रहती है। अतः दूसरे के शरीर को समाधि का विषय बनाकर तमः प्राण का प्रत्यक्ष करना चाहिये।

सूक्ष्म शरीरगत उदान प्राण का साक्षात्कार—तत्पश्चात् उदान प्राण के स्थान में गमन करके उसके सात्त्विक, राजस् और तामस् भेदों को जानने का प्रयत्न करना चाहिए। उदान के त्रिगुणमयी स्वरूप का तत्त्व-ज्ञान करने के लिये योगी को उदान प्राण के प्रदेश में यौगिक दिव्यदृष्टि से प्रवेश करना चाहिये। इसका सम्बन्ध प्राण और उपप्राणों से भी है। अतः श्वास-प्रश्वास क्रिया द्वारा योगी को इसका ज्ञान करना उचित है। इसी के आधार पर उपप्राणों के सर्वकार्य सम्पन्न होते हैं। यही फेफड़ों की गन्दी वायु निकाल कर प्राणदा वायु को अन्दर ले जाता है। इस प्रकार इसी से जीवन रक्षा होती है।

सत्त्वप्रधान उदान का सूक्ष्म शरीर में प्रत्यक्ष—बुद्धि एकाग्र करके उदान प्राण के कार्यों को प्रत्यक्ष कर देखना चाहिये कि किस प्रकार उदान श्वास-प्रश्वास क्रिया द्वारा जीवन का आधार बना हुआ है और किस प्रकार यह जीवन को सुरक्षित रखता है। उदान प्राण स्थूल, सूक्ष्म, एवं कारण शरीरों को जीवित रखने में अत्यन्त सहयोगी साधन है। इसके सहयोग के विना उपप्राण और हृदयस्थ प्राण अपना कार्य तनिक भी नहीं कर सकते। प्राणदा वायु को लेकर जीव किस प्रकार जीवन धारण करते हैं इसका भी साक्षात्कार करना चाहिये। इससे सूक्ष्म शरीर की तृप्ति होती है। इसमें स्पर्शतन्मात्रा उपादान कारण है। इसके द्वारा सूक्ष्म शरीर में सब कार्य सिद्ध होते हैं। दोनों के कर्म और व्यापार का यही साधन है। सूक्ष्म जगत् में सूक्ष्म भोगों का आयतन भी यही है। यही शरीर में सर्वत्र गति करता और कराता है। योगी को दोनों लोकों के सूक्ष्म शरीर के ज्ञान का एकमात्र साधन उदान को ही समझना चाहिये।

रजःप्रधान उदान का सूक्ष्म शरीर में प्रत्यक्ष ज्ञान—श्वास-प्रश्वास की क्रिया के समय योगी इस लोक के शरीर को और परलोक के सूक्ष्म शरीर के प्राण को अपने ध्यान

का विषय बनाकर अनुसंधान करे। इस लोक के शरीर में साथ रहने के कारण सूक्ष्म शरीर का भी ज्ञान हो जाता है जो सूक्ष्म तन्मात्राओं के आहार से जीवित बना रहता है और सूक्ष्म जगत् में रहने से जिसमें स्वतंत्रतापूर्वक विचरना, गमनागमन करना, इन्द्रियों के द्वारा भोग प्राप्त करना आदि चेष्टाएं भी सदा बनी रहती हैं। श्वास-प्रश्वास की गति कायम रखना और इन्द्रियों द्वारा विषयों का भोग कराना इसका मुख्य व्यापार और धर्म है।

तम:प्रधान उदान का सूक्ष्म शरीर में प्रत्यक्ष—निद्रा में इसकी स्थिति एकसमान रहती है। इस लोक में परतन्त्र रहकर विचरता और भोग करता रहता है और परलोक में स्वतन्त्र रहकर भोग करता-कराता रहता है। आकाश में गमनशील रहने से इसमें विशेष क्षोभ नहीं होते। सामान्य सी स्थिति बनी रहती है। इस लोक के व्यवहारों के समान वहां कोई व्यवहार भी नहीं होते। किसी से रागद्वेष इत्यादि नहीं होता। सदा एक सी स्थिति बनी रहती है।

उदान का सम्बन्ध व्यान से भी रहता है और यह उपप्राणों को भी शक्ति पहुंचाता रहता है। वहां केवल भोगों की प्रधानता रहती है। उदान के पश्चात् व्यान में प्रवेश करके उसके सात्त्विक, राजस् और तामस् तीनों भेदों के स्वरूप का सूक्ष्म शरीर में साक्षात्कार होता है और वह सर्वप्रथम स्पर्श तन्मात्रा से उत्पन्न होकर सूक्ष्म शरीर में फैल जाता है। सहकारी रूप में यह उपादान कारण भी होता है और जीवन को भी चलाता है। स्पर्श तन्मात्रा से उत्पन्न होकर स्थान भेद से प्राणों की भांति अनेक भेद वाला हो जाता है और उनकी भिन्न-भिन्न संज्ञाए हो जाती हैं। परन्तु सब प्राणों में इसके गुण, धर्म, व्यापार और सम्बन्ध पृथक् ही रहते हैं। समस्त शरीर में ज्ञान का प्रसार करता है जबकि सूक्ष्म शरीर में ज्ञान एक ही समान रहता है। परन्तु ज्ञान की गति और प्रसार व्यान ही करता है तथा वह जीवन को व्याप्त किये रखता है।

सत्त्वप्रधान व्यान का सूक्ष्म शरीर में प्रत्यक्ष अनुभव—सत्त्वप्रधान व्यान में स्पर्श तन्मात्रा परिणामभाव को प्राप्त होकर व्यान प्राण के रूप में आई है। इसमें सूक्ष्मभूत आकाश की प्रधानता है। सूक्ष्म शरीर का व्यान ही पोषक है और इसमें सर्व कार्य भी यही करता है, क्योंकि सूक्ष्म शरीर में कुछ न कुछ गति और ज्ञान तो रहता ही है। अत: बिना व्यान के उसका कोई कार्य नहीं होता। योगी को समाधि में स्थित होकर इस सूक्ष्म शरीर को तथा आकाशमण्डल में रहने वाले सूक्ष्म शरीर

को दिव्यदृष्टि द्वारा व्यान का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण करना चाहिए तथा व्यान के द्वारा सर्वव्यापक चेतन ब्रह्म का इसके स्पर्श द्वारा ज्ञान करना चाहिए क्योंकि शरीर में ये दोनों व्याप्त हैं। चेतन तत्व व्यान से भी सूक्ष्म है। व्यान के द्वारा चेतन के अनुभव में योगी के लिए अद्वितीय आनन्द की उपलब्धि होती है। व्यान के द्वारा चेतन ब्रह्म का अन्तिम साक्षात्कार होता है। इस अवस्था में सर्वव्यापक चेतन ब्रह्म व्यान में घुला मिला और व्यान की गति का भी हेतु प्रतीत होने लगता है। यहाँ व्यान के साथ भेदाभेद रूप में चेतन का साक्षात्कार होता है। व्यान और सर्व-व्यापक चेतन के बीच कोई व्यवधान नहीं रहता है। 'आत्म-विज्ञान' ग्रन्थ में हमने अनेक प्रकार की ज्योतियों को सर्व प्रकार के पदार्थों के प्रति माध्यम माना है। परन्तु इस 'प्राण-विज्ञान' ग्रन्थ में तीनों शरीरों के सर्व पदार्थों तथा प्रकृति, आत्मा और परमात्मा के साक्षात्कार में प्राणों को ही माध्यम, साधन या हेतु माना है। भौतिक वायु के कार्य प्राण को स्थूल शरीर में उस की रचना और उसके साक्षात्कार में माध्यम माना है। सूक्ष्म वायुभूत या स्पर्श तन्मात्रा के कार्य सूक्ष्म प्राण को सूक्ष्म शरीर के पदार्थों में साक्षात्कार का माध्यम कहा है। कारण शरीर के चित्त में उत्पन्न हुए प्राण को कारण शरीर के पदार्थों का स्पर्श द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होना माना है। प्राण ही साक्षात्कार के प्रति माध्यम है। कारण रूप प्रकृति की साम्यावस्था में प्रकृति और सर्वव्यापक चेतन ब्रह्म के संयोग से प्रकृति में उत्पन्न हुए सूक्ष्म प्राण, जो प्रकृति की आद्या शक्ति है, उसे ब्रह्म-ज्ञान के प्रति माध्यम माना है। संसार के जड़ और चेतन सर्वपदार्थों के साक्षात्कार का प्रधानहेतु प्राण ही माना गया है।

रजःप्रधान व्यान का सूक्ष्म शरीर में प्रत्यक्षीकरण—सूक्ष्मशरीरस्थ रजःप्रधान व्यान प्राण का स्थूल शरीर के व्यान पर भी प्रभाव पड़ता है; क्योंकि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर व्याप्य-व्यापक भाव से मिले हुए भी हैं। स्थूल शरीर के भोगों की प्रधानता का प्रभाव सूक्ष्म शरीर के व्यान पर भी पड़ता है। दोनों का आश्रय-आश्रयीभाव सम्बन्ध है। जब व्यान में रजोगुण प्रधान होता है तो दोनों ही संतप्त हो उठते हैं। हाँ सूक्ष्म जगत् के सूक्ष्म शरीर में इस प्रकार का संतप्त-भाव नहीं होता। वहाँ इस प्रकार के प्रचण्ड वेग पैदा नहीं होते। वहाँ व्यान में समरसता ही रहती है और संकल्पमात्र से भोग प्राप्त होते हैं। व्यान को प्रकुपित या उत्तेजित होना नहीं पड़ता। वहाँ सुख भी समान-भाव से रहता है। न विशेष हर्ष, न विशेष शोक और न विशेष दुःख और न विशेष सुख होता है। वहाँ इस संसार की समस्त वस्तुओं एवं संबन्धों का अभाव रहता है। न वहां महल-कोठी, बंगले, न स्त्री, पुत्र, पुत्रियाँ, भाई-बन्धु,

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10

चित्र संख्या ५ का विवरण

महत्तत्त्व की सृष्टि में प्राण की स्थिति और उसका साक्षात्कार

इस चित्र को गोल मण्डलाकार के रूप में दर्शाया गया है। यह चित्र ब्राह्मी सृष्टि के ९ पदार्थों का है। इसमें सर्वप्रथम श्वेत रंग की गोल परिधि में सत्वप्रधान महत्तत्त्व को दिखाकर इससे समष्टि चित्त को उत्पन्न होते हुए दिखाया गया है जो कुछ गुलाबी से रंग का है। तत्पश्चात् समष्टि चित्त से उत्पन्न होते हुए व्यष्टि चित्तों को श्वेत से रंग में दर्शाया गया है। इस प्रकार सत्व महत्तत्त्व की सृष्टि यहीं समाप्त हो जाती है। इसके आगे रज:प्रधान महत्तत्त्व को फीके से गुलाबी रंग में दिखाया गया है। उसके पश्चात् रज:प्रधान महत्तत्त्व से समष्टि बुद्धिमण्डल और उसके आगे व्यष्टि बुद्धियों की उत्पत्ति पीत वर्ण में दिखाई गई है जो छोटे-छोटे गोल मण्डलों के रूप में दिखाई गई हैं। इसके पश्चात् तम:प्रधान महत्तत्त्व से उत्पन्न समष्टि अहंकार को नील वर्ण में दिखाया गया है। तत्पश्चात् उससे उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के अहंकारों की उत्पत्ति दिखाई गई है। यह संख्या ९ में हैं।

तत्पश्चात् १०वीं संख्या के अन्तर्गत सर्व पदार्थों में आध इंच चौड़ी पट्टी द्वारा प्राण की प्रधानता दिखाई गई है जो सर्वत्र कार्य और गति का हेतु बनी हुई है। इस श्वेत धारा के अन्दर नील वर्ण द्वारा प्राण का गमन दिखाया है जो सर्व पदार्थों में गति का कारण बना हुआ है। ये पदार्थ और प्राण ब्राह्मी सृष्टि में प्रकृति के पश्चात् उत्पन्न हुए हैं। इनसे आगे सृष्टि और तीनों प्रकार के शरीरों का सृजन होता है।
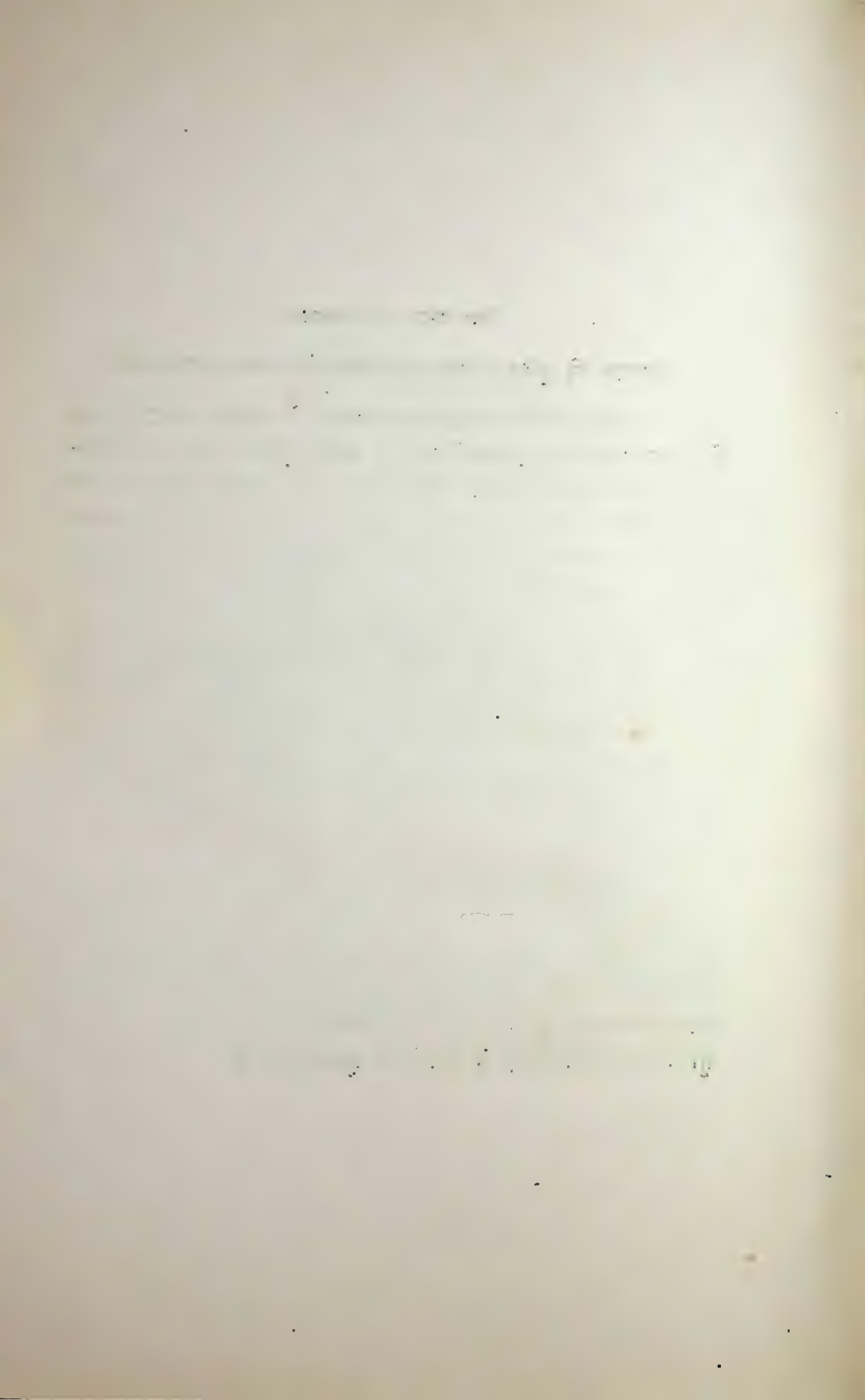
माता-पिता, और न इष्ट मित्र ही होते हैं। न गुरु-शिष्य का सम्बन्ध ही होता है। वहां जीव सर्व-बन्धनों से मुक्त होता है।

शंका— तो फिर इस प्रकार के स्वर्ग लोक को प्राप्त करने से लाभ ही क्या जहां अपना कोई भी न हो ?

समाधान—इस लोक में जीव सारे जीवन सुखों की प्राप्ति के लिये अहर्निश प्रयत्न करता रहता है, हर प्रकार सुख-प्राप्ति के लिये कठिन से कठिन कार्य और पुरुषार्थ करता रहता है। तथापि कोई भी पूर्णतया सन्तुष्ट या सूखी देखने में नहीं आता। कुछ न कुछ दु:ख बना ही रहता है। अनेक कामनायें अधूरी रह जाती हैं। मृत्यु-समय में भी बहुत सी अतृप्त इच्छाओं और तृष्णाओं को साथ लेकर जीव शरीर छोड़ते और यहां से प्रयाण करते हैं। उस समय मानव सब ओर से निराश और विवश सा हो जाता है। संसार के सर्वपदार्थ—जड़ अथवा चेतन एवं सारे सम्बन्ध दु:खरूप ही प्रतीत होते हैं। पर इनसे किसी का चित्त विरक्त देखने में न्हीं आता। कुछ न कुछ राग बना ही रहता है, क्योंकि राग ही अज्ञान, कर्म और बन्धनों का कारण है। सुख नाम की कोई वस्तु या पदार्थ देखने में नहीं आती। सुख के नाम पर भ्रान्तिमात्र ही हाथ लगती है।

तब शंका होती है कि फिर क्या जप, तप, ध्यान, समाधि आदि अध्यात्मज्ञान प्राप्ति के साधन सब व्यर्थ ही हैं ? नहीं, जप-तप, इन्द्रिय-मन-संयम, ध्यान-समाधि, अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति से विवेक, प्रज्ञा शक्ति और वैराग्य-भाव की समुचित वृद्धि होती है जिनके द्वारा अनादि काल की अनन्त वासनाएं और इस जन्म के भी अनेक संस्कार तनु और प्रसुप्त हो जाते हैं। इनकी प्रसुप्ति क्लेशों और दु:खों को भी प्रसुप्त बना देगी। वे प्रसुप्त संस्कार इस सृष्टि में सिर उठाने योग्य नहीं रहेंगे। उस काल में किसी पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा भी लुप्त हो जायेगी। उनकी यह प्रसुप्ति ही चिरकालीनदु:खनिवृत्ति का हेतु बनी रहेगी। अत: जप-तप, ध्यान-समाधि, आत्म-ज्ञान प्राप्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। अनन्त काल के लिये न भी सही, कम से कम इस वतमान सृष्टि में तो दु:खाभाव हो ही जायेगा। यह भी तो वड़ी भारी सफलता है। अत: इस लोक तथा स्वर्गलोक या सूक्ष्म लोक में अन्तर है और उससे अधिक अन्तर ब्रह्म लोक में है। इन सब लोकों में सुख की प्रधानता अधिकाधिक रहेगी। अत: उन लोकों को प्राप्त करने के लिये उचित साधनों को जुटाते ही रहना चाहिये।

तमःप्रधान व्यान का सूक्ष्म जगत् और सूक्ष्म शरीर में साक्षात्कार—व्यान प्राण

में गुणों का परिवर्तन होता रहता है। कभी सत्त्व, कभी रज, कभी तम बढ़ जाता है। शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरण के कर्मभेद से भिन्न-भिन्न रूपों में परिवर्तन अवश्यम्भावी हैं। निद्रा में तम की प्रधानता तो अवश्य होती है। यह अवस्था स्थूल और सूक्ष्म जगत् दोनों में आती है। इस लोक और परलोक के सूक्ष्म शरीरों को समाधि की अवस्था में देखना चाहिये, और तमःप्रधान व्यान का भी साक्षात्कार करना चाहिये। यहां सूक्ष्म शरीर के सूक्ष्म प्राणों के सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीनों भेदों से पांच प्राणों और पांच उपप्राणों के साक्षात्कार का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है।

ये प्राण ३० प्रकार के हैं। सूक्ष्म शरीर के सूक्ष्म प्राणों को स्थूल शरीर में भी ध्यान की सूक्ष्म और दिव्यदृष्टि से अनुभव किया जा सकता है। सूक्ष्म लोक में विचरते हुए सूक्ष्म शरीरों को भी समाधि का विषय बनाकर साक्षात्कार करना चाहिये। इन प्राणों के द्वारा सृष्टि अर्थात् कार्य-कारण रूप प्रकृति, आत्मा और परमात्मा का स्पर्श द्वारा साक्षात्कार होता है। जैसे अग्नि, तेज, प्रकाश, चन्द्रमा, सूर्य, जुगनू, तारे, हीरे आदि पदार्थों के प्रकाश से अन्य प्रकाश-रहित पदार्थों को देखा जा सकता है इसी प्रकार प्राणों के द्वारा भी स्पर्श करके अथवा अपनी उंगलियों या त्वचा से (जिनमें प्राण-शक्ति है) स्पर्श द्वारा पदार्थों का प्रत्यक्षज्ञान किया जा सकता है। जैसे नेत्रहीन प्रज्ञाचक्षु व्यक्ति स्पर्श के द्वारा बहुत से पदार्थों को जान सकता है। उनकी लम्बाई, चौड़ाई, गोलाई, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि आकारों को भी बता सकता है। एक प्रज्ञाचक्षु सज्जन मोतियों को हाथ में लेकर उनका भार तक बता देते थे तथा मनुष्य के शरीर पर हाथ फेर कर उसकी आयु तक बता देते थे। उनके कमरे में कोई स्त्री या पुरुष अथवा बालक-बालिका जाते तो उसकी चाल से ही पहचान लेते थे कि यह पुरुष है या स्त्री। जन्म से अन्धा व्यक्ति केवल रंग को नहीं बता पाता किन्तु पदार्थों के आकार-प्रकार सभी बता सकता है। तात्पर्य यह है कि प्राण के द्वारा स्पर्श करके अतीन्द्रिय पदार्थों का भी साक्षात्कार किया जा सकता है। इस अध्याय में सूक्ष्म शरीर के ३० प्रकार के सूक्ष्म प्राणों का साक्षात्कार और उनके द्वारा प्रकृति एवं उसके कार्यों तथा आत्मा और परमात्मा के क्रम-पूर्वक साक्षात्कार का उल्लेख किया गया है।

इति ब्रह्मनिष्ठराजयोगाचार्योपाधिधारिणा श्री योगेश्वरानन्द सरस्वतिस्वामिना प्रणीते प्राणविज्ञाने प्राण-स्वरूप-वर्णनात्मक नाम षष्ठोध्यायः समाप्तः।

सप्तमोऽध्यायः

महत्तत्व की सृष्टिगत एवं कारणशरीरस्थ तीन प्रकार के सूक्ष्मतर प्राणों का साक्षात्कार और आत्मानुभूति

सूक्ष्म शरीर में १० प्रकार के प्राण हैं। ये सात्त्विक, राजस् और तामस् भेद से ३० प्रकार के हो जाते हैं। योगी इनका सूक्ष्म शरीर में साक्षात्कार करता है और इनके द्वारा आत्मा, परमात्मा तथा अन्य पदार्थों का स्पर्श के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप में अनुभव कर लेता है। तदनन्तर वह कारणशरीर में प्रवेश करता है। वहां कारणशरीर में सूक्ष्मतर प्राणों को आत्मा और परमात्मा के साक्षात्कार का माध्यम बनाता है। उस समय वह सत्त्वप्रधान समाधि में सत्त्वप्रधान सूक्ष्म प्राण को माध्यम बनाता है और स्पर्श के द्वारा आत्म-साक्षात्कार करता है।

अब विचारणीय विषय यह है कि चेतन के साक्षात्कार में चित्त माध्यम होगा ? अथवा उसका वृत्तिरूप प्राण ?

समाधान—चेतन आत्मा चित्त से सूक्ष्मतर है और उसमें व्याप्त भी है। चित्त की वृत्ति भी साक्षात्कार में हेतु हो जाती है और चित्त भी; क्योंकि चित्त और उसकी वृत्ति (प्राण) का परस्पर अभेद होता है। चित्त और चेतन का भी भेद अभेद होता है। दोनों ही भेदाभेद से वर्तमान रहते हैं। जिस समय चित्त में प्राणरूप वृत्ति उदित होती है तब आत्मा भी वहां मौजूद रहता है। उसका स्पर्श भी उस काल में साथ-साथ अनुभव होता रहता है। यहां प्राण के द्वारा चेतन का स्पर्श या साक्षात्कार होता है। योगी स्थूल शरीर में रहते हुए कारणशरीर को समाधि का विषय बनाकर उसके सर्वपदार्थों का साक्षात्कार कर लेता है। स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से मुक्त होकर कारण शरीर महत्तत्त्व की सृष्टि में प्रलयपर्यन्त रहता है। साधक उसकी गतिविधि, स्थिति अथवा ब्रह्मानुभूति की अवस्था का भी प्रत्यक्ष करता है।

तीन शरीररूप त्रिवन्धाभिमानी योगी तीनों शरीरों के धर्म-कर्म और स्वरूप एवं भोगों को अनुभव करने में समर्थ हो जाता है, परन्तु कारण शरीर की स्थितिकाल में ही महत्तत्त्व की सृष्टि और कारणरूप प्रकृति एवं ब्रह्मानन्द की अनुभूति प्राप्त करता है। वह उस समय सत्त्वप्रधान होता है। उसे अपने स्वरूप 'अहमस्मि' का बोध होता है और 'अयमस्ति' परमात्मा के स्वरूप का भी ज्ञानरूपेण प्रत्यक्ष होता है। उदाहरणार्थ एक योगी सृष्टि होने के पश्चात् आत्म-साक्षात्कार होने पर स्थूल शरीर से मुक्त हो जाता है। तब वह पहले कल्प में ही सूक्ष्म और कारण शरीरों को लेकर सूक्ष्म जगत् या स्वर्ग-लोक में रहेगा, और सूक्ष्म शरीर के द्वारा सूक्ष्म शरीर के भोगों को भोगेगा। उसे पहले कल्प का समय मिला। इसके पश्चात् महत्तत्त्व की सृष्टि में उसे उस कल्प का समय ब्रह्मानन्द भोगने को मिलेगा। यदि एक सृष्टि चार अरब वर्ष की मानें तो योगी को भी चार अरब वर्ष से कुछ कम सूक्ष्म शरीर को भोगने के लिये मिलेंगे। फिर सूक्ष्म जगत् की प्रलय होने में भी ५० करोड़ वर्ष लगते हैं जबकि दो अरब वर्ष समस्त जगत् की प्रलय होने में लगते हैं। इस भांति लगभग ५ अरब वर्ष तक उसका सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म जगत् के भोग करेगा, सृष्टि के प्रारम्भ में ही स्थूल शरीर से मुक्त हो जाने पर। कारण शरीर में रहकर ब्रह्मानन्द का भोग केवल ५० करोड़ वर्ष तक ही प्राप्त होगा; क्योंकि ५० करोड़ वर्ष महत्तत्त्व की सृष्टि की प्रलय होने में लगते हैं। योगी को भोगने का सर्वाधिक समय कारण शरीर में प्राप्त होगा; क्योंकि वह स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के साथ भी रहता है। और सूक्ष्म शरीर को उससे कम भोगने का समय मिलेगा, स्थूल शरीर को उससे भी कम। कारण शरीर को सर्वथा विशुद्ध अवस्था में आते-आते एक अरब वर्ष ब्रह्मानन्द के भोग के लिये मिलते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर को जाते और आते नितान्त विशुद्धभोग स्थली स्वर्ग लोक में एक अरब वर्ष प्राप्त होते हैं। सृष्टि काल में प्रलय से आते और प्रलय में जाते स्थूल शरीर को चार अरब वर्ष लगते हैं। इन चार अरब वर्षों में यह संसार के स्थूल भोगों को भोगता रहता है। प्रलयकाल के चार अरब वर्ष छोड़कर उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का शेष सारा समय तीनों शरीरों के भोग का ही रहता है। यह गमनागमन प्रकृति और उसके कार्यों तथा शरीरों का सदा होता रहता है। अनादि काल से यह चला आ रहा है, सदा चलता रहेगा। यह जीव भी इसके साथ जाता और आता भी रहेगा।

प्रकृति से परिणत सत्त्वप्रधान महत्तत्त्व समष्टि चित्त के रूप में उत्पन्न हुआ। समष्टि चित्त से व्यष्टि चित्त की उत्पत्ति हुई। सत्त्वप्रधान महत्तत्त्व की प्राण शक्ति

समष्टि चित्त में आई और समष्टि चित्त से वह व्यष्टि चित्त में आई। प्रकृति से उत्पन्न रज:प्रधान महत्तत्त्व से समष्टि बुद्धि की उत्पत्ति हुई। समष्टि बुद्धि से व्यष्टि बुद्धियों की उत्पत्ति हुई। रज:प्रधान महत्तत्त्व में जो प्राण-शक्ति थी वह भी साथ मिलकर क्रिया का हेतु वनी। वह समष्टि बुद्धि में चली गई और वही प्राणशक्ति क्रिया के रूप में व्यष्टि बुद्धि में चली गई। प्रकृति से उत्पन्न तम:प्रधान महत्तत्त्व से समष्टि अहंकार की उत्पत्ति हुई। समष्टि अहंकार से व्यष्टि अहंकार उत्पन्न हुआ। तम: प्रधान महत्तत्त्व में जो प्राण शक्ति थी वह समष्टि अहंकार में पहुंची और जब समष्टि अहंकार से व्यष्टि अहंकार उत्पन्न हुआ तब वही प्राणशक्ति व्यष्टि अहंकार में चली गई। यह प्राणशक्ति सर्व पदार्थों के साथ मिलकर सब में क्रिया का हेतु बनी। तीनों प्रकार का महत्तत्त्व भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत हुआ। उन भिन्न-भिन्न रूपों में प्राण का भी साथ-साथ गमन हुआ। यह परिणाम होते हुए वह सूक्ष्म से स्थूल रूप में होता गया। परन्तु प्रकृति के इस परिणाम-क्रम में आत्मा की कोई भोगात्मक अवस्था अभी नहीं आई क्योंकि अभी आत्मा का कोई स्वरूप, सत्ता या लक्षण ही नहीं बना है। केवल ब्राह्मी सत्ता ही है जिसके साथ प्रकृति परिणत होती हुई चली आ रही है। अभी कारण शरीर ही उत्पन्न नहीं हुआ जो आत्मा के भोग सम्पादन करने में प्रधान हेतु बने। महत्तत्त्व के इन तीनों रूपों में सूक्ष्म प्राण वर्तमान है, और इनमें क्रिया का साधन बना हुआ है। इस प्राण के बिना ये परिणाम कर्म में समर्थ नहीं होंगे। महत्तत्त्व की ये तीनों सृष्टियां होने के पश्चात् ही तीनों शरीरों का व्यष्टि में निर्माण होगा जिससे जैवी सृष्टि प्रारम्भ होगी और भोगात्मक संसार की उत्पत्ति या रचना होगी। इस अवस्था में प्राणों के सत्व-रज तमात्मक भोग की बात नहीं बनती; क्योंकि यहां भोग ही नहीं हैं और भोक्ता भी नहीं है। केवल ब्रह्म और तीन अवस्था वाला महत्तत्त्व ही वर्तमान है। जब भोगात्मक सृष्टि का प्रारम्भ होगा तब सत्त्व-रज-तमात्मक प्राणों की उत्पत्ति होगी। सर्वप्रथम सत्व विशिष्ट महत्तत्त्व अपनी सृष्टि का प्रारम्भ करेगा। तत्पश्चात् रज की सृष्टि और उसके अनन्तर तम की सृष्टि चलेगी। सत्त्व प्रधान महत्तत्त्व की सृष्टि चित्तों में पहुंच कर समाप्त हो जायेगी। उसी प्रकार रज रञ्जित महत्तत्त्व की सृष्टि बुद्धियों में समाप्त होगी। परन्तु तम:प्रधान महत्तत्त्व की सृष्टि बहुत लम्बी चलेगी और पृथिवी में पहुंच कर ही समाप्त होगी। तम:प्रधान महत्तत्त्व समष्टि अहंकार को उत्पन्न करेगा। समष्टि अहंकार से व्यष्टि अहंकारों का निर्माण होगा। इसमें त्रित्व-भावसत्व-रज-तम पैदा होगा। सत्त्व से ज्ञानेन्द्रियां, रज से कर्मेन्द्रियां और तम से पचतन्मात्राए या सूक्ष्मभूत उत्पन्न होंगे। इस सृष्टि में ज्ञान की गौणता और कर्म की प्रधानता रहेगी। ज्ञान गौण होता चला जायेगा

और कर्म प्रधान होता जायेगा। अन्त में पृथिवी में पहुंच कर कर्म स्थिर हो जाएगा।

शंका--सर्वप्रथम प्राण की उत्पत्ति चित्त में हुई फिर इसी प्रकार बुद्धि में भी क्यों नहीं होती ?

समाधान—क्योंकि सर्वप्रथम आत्मा का सम्बन्ध चित्त से होता है। अतः प्राण की उत्पत्ति बुद्धि से पहले ही होती है। चित्त और आत्मा का संयोग ही चित्त में प्राण की उत्पत्ति का कारण होता है। कारण शरीर की उत्पत्ति में सर्वप्रथम उपादान सत्त्व-प्रधान महत्तत्त्व, उसका कार्य समष्टि चित्त, उसका भी कार्य व्यष्टि चित्त, तथा परम्परागत प्रकृति ही होती है। प्रकृति से सत्त्व महत्तत्त्व, इससे समष्टि चित्त और फिर उससे व्यष्टि चित्त होता है। यहां कारण शरीर में चार उपादान कारण हैं। उनमें प्रधान है प्रकृति, फिर सत्त्व महत्, फिर समष्टि चित्त और तब व्यष्टि चित्त। व्यष्टि चित्त के साथ चेतनात्मा का सम्बन्ध चित्त में सूक्ष्म प्राण को उत्पन्न करता है। पांचवां सूक्ष्म प्राण, छठा अहंकार, सातवां आत्मा और आठवां परमात्मा—इन आठ पदार्थों का संघात (समुदाय) कारण शरीर है। हमने 'आत्म विज्ञान', 'ब्रह्म विज्ञान' आदि ग्रन्थों में कारण शरीर में छः पदार्थ माने हैं। वहां सत्त्व महत् और समष्टि चित्त को प्रकृति में समावेश करके प्रकृति को ही शरीर का उपादान कारण कहा गया है। ये दोनों उसके अन्तर्गत आते हैं। वास्तव में महत्सत्त्व और इसका कार्य समष्टि प्राण समीपवर्ती प्रधान कारण हैं। इस प्राण के प्रति इन सबका संघात कारण शरीर है। सूक्ष्म शरीर में बुद्धि और आत्मा के संयोग से इसलिये प्राण की उत्पत्ति नहीं होती कि वहाँ अहंकार से उत्पन्न पंचतन्मात्रायें हैं, और उनमें स्पर्श तन्मात्रा प्राण के रूप में परिणत हुई है। पंच तन्मात्रायें सूक्ष्म शरीर के प्रति उपादान कारण बनी हैं। इनमें स्पर्श तन्मात्रा प्राण के रूप में परिणत हुई है। इसी कारण बुद्धि की सृष्टि आगे नहीं चली और कारण शरीर में पहले ही चित्त के साथ आत्मा का संयोग होकर चित्त में प्राण उत्पन्न हो गया।

कारण शरीर में उपादान कारण भी तो एक प्रकार से चार मान लिये गये हैं। उनमें चौथा जो सहकारी उपादान कारण व्यष्टि चित्त माना है उसके साथ ही व्यष्टि जीवात्मा का सर्वप्रथम सम्बन्ध हुआ है। इन व्यष्टियों के सम्बन्ध से एक प्रकार से समष्टि आत्मा में भी व्यष्टि-भाव प्राप्त हो गया। यथार्थ

में व्यष्टि चित्त के उत्पन्न होने से पूर्व वे तीनों ही वर्तमान थे। यथा समष्टि प्रकृति, समष्टि महत्तत्त्व और समष्टि चित्त। इन तीनों अवस्थाओं में सर्व-व्यापक सर्वात्मा परमात्मा ब्रह्म ही था। समष्टि चित्त से व्यष्टि चित्त के उत्पन्न होने पर व्यष्टि चित्त के स्थान या देश में परमात्मा की ही जीवात्म संज्ञा हो गई; क्योंकि प्रकृति का परिणाम-क्रम चलता आ रहा था। जब वह अनेक चित्तों के रूप में परिणत हुई तब उन अनेक चित्तों में सर्वात्मा या ब्रह्म की ही जीवात्मा संज्ञा मान ली गई। सर्वव्यापक चेतनात्मा में प्रकृति की तरह किसी भी प्रकार का परिणाम नहीं हुआ। वह आकाश के समान विभु ही रहा। अब क्योंकि भोगात्मक सृष्टि चलनी है, अतः यहां से चित्त और चेतन के संयोग से ही चित्त में प्राण का प्रादुर्भाव हो गया। इसी कारण, कारण-शरीर में प्राण को जीवन का संचार करने वाला मुख्य साधन माना है जो शरीर में सात्त्विक, राजस् , तामस्— तीन प्रकार का है और कारण शरीर के भोग का हेतु भी है। स्थूल, सूक्ष्म भेद से कारण शरीर में ६३ प्रकार के प्राण हैं। इसके ऊपर समष्टि चित्त और उसके ऊपर सत्त्व महत् है जो समष्टि चित्त का कारण है। उसके ऊपर मूल प्रकृति में सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम तीन प्रकार के समष्टि प्राण हैं। इसके साथ सर्वात्मा का सम्बन्ध रहता है क्योंकि ये तीनों समष्टि रूप से होते हैं। परमात्मा भी समष्टि रूप में होता है। जब यह समष्टि-व्यष्टिभाव को प्राप्त होते हैं तब व्यष्टियों की भोगात्मक संज्ञा हो जाती है। प्रश्न उपस्थित होता है कि जैसे ब्रह्म की चित्त प्रदेश में व्यष्टि संज्ञा हो जाती है उसी प्रकार जीवात्मा के रूप में प्रकृति की भी अपरिवर्तित चित्त संज्ञा क्यों नहीं मानी जाय? जैसे घटाकाश और मठाकाश होता है। किन्तु चेतन परमात्मा में किसी भी काल में किसी भी प्रकार का परिणाम या परिवर्तन दिखाई नहीं देता। उसमें न तो अवस्थान्तर परिणाम होता है और न ही कार्य-कारणभाव देखने में आता है। परन्तु फिर भी समष्टि व्यष्टि भाव स्वीकार किया ही जाता है। प्रकृति में सदा परिणाम-क्रम चलता रहता है। इसमें कारण-कार्यभाव भी हम देखते हैं; साथ ही समष्टि-व्यष्टिभाव देखा जाता है। अतः दोनों को एक समान कैसे स्वीकार किया जा सकता है? इसका समाधान यह है कि प्रकृति में परिणाम होने के पश्चात् जो दूसरी कार्य-रूप अवस्था आती है— जैसे समष्टि चित्त से व्यष्टि चित्तों की उत्पत्ति। यहां तो कारण-कार्य अर्थ में समष्टि तथा व्यष्टि शब्दों का प्रयोग किया गया है। यहां यह शब्द परिणामात्मक पदार्थों में प्रयुक्त होता है। परन्तु ब्रह्म और जीवात्मा में बिना किसी परिणाम-क्रम के ही समष्टि, व्यष्टि शब्दों का प्रयोग होता है। आप समष्टि शब्द का अर्थ परिणत होने वाले जो कारणात्मक पदार्थ हैं उनमें समष्टि शब्द और जो कार्यात्मक पदार्थ हैं

जिनमें अनेकता है उनको व्यष्टि-परक समझें। जैसे एक समष्टि चित्त और अनेक व्यष्टि चित्त हैं। ब्रह्म परिणाम से रहित है। कारणरूप प्रकृति में ब्रह्म को समष्टि रूप में समझें। और सर्वव्यापक होने से अनेक चित्तों में पृथक्-पृथक् प्रतीत होने से जीवात्मा को व्यष्टि रूप में समझें। समष्टि, व्यष्टि शब्द दोनों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। योगी को इन दोनों में प्राण का साक्षात्कार करना चाहिए। चित्त की सात्विक अवस्था में सत्त्व प्रधान प्राण द्वारा आत्मा और परमात्मा की स्पर्शानुभूति अनिर्वचनीय, इन्द्रियातीत और केवल चेतनागम्य होती है।

सत्त्वप्रधान सूक्ष्म प्राण के द्वारा आत्मसाक्षात्कार—योगी चित्त को सात्त्विक और बुद्धि को समाहित कर हृदय प्रदेश में आत्मा को लक्ष्य बनाकर, श्वास-प्रश्वास की गति को सूक्ष्म करके चित्त के सूक्ष्मतम प्राण को बुद्धि की दिव्यदृष्टि से देखने का प्रयत्न करे। जब उसके प्रतिक्षण के परिणाम-क्रम शान्त हो जायें तब चित्तस्थ सूक्ष्म प्राण का आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। छूकर (या स्पर्श करके) उसके पुनः पुनः स्पर्श से जो आत्मानुभूति होती है, वह अलौकिक, अनिर्वचनीय तथा स्वयंगम्य होती है। उस समय अन्तःकरण के चित्त प्रदेश में सूक्ष्म प्राणद्वारा जो आत्म साक्षात्कार होता है वह न लेखनी से लिखा ही जा सकता है और न वाणी से वर्णन हो सकता है। उस गहन स्थिति में अहंकार द्वारा 'अहमस्मि' स्व-स्वरूप का साक्षात्कार होता है। यदि उस काल में योगी अपनी विभु सी दृष्टि से चारों ओर देखे तो वह दिव्यदृष्टि चित्त के किनारों का भेदन करके पार होकर सर्वव्यापक चेतन ब्रह्म का प्रत्यक्ष रूप में अनुभव कराती है। इसी प्रकार चित्त के उपादान कारण का साक्षात्कार भी कराती है; क्योंकि कार्य-कारण का अत्यन्त निकटवर्ती सम्बन्ध होता है। चित्त में प्रतिक्षण संस्कारों का जो परिणाम होता है उसे भी योगी अपनी दिव्यदृष्टि से देखता है। वह चेतन का सन्निधान और व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध या संयोग सम्बन्ध रहने से उसे भी प्रत्यक्ष अनुभव करता है। यही एक ऐसी अवस्था है जिसमें योगी अपने स्वरूप, चित्त के स्वरूप, उसके उपादान कारण और ब्रह्म के स्वरूप को प्राण द्वारा स्पर्श करके निर्भ्रान्त साक्षात्कार करता है। प्राण की मन्द-मन्द गति या क्रिया द्वारा दोनों के भेदाभेद सम्बन्ध का अनुभव करता है। यही चित्तवर्ती सूक्ष्म प्राण की विशेषता है। सत्त्व-प्रधान अवस्था में ऋतंभरा बुद्धि के द्वारा इन सब पदार्थों का साक्षात्कार होता है। यहाँ धर्ममेघ समाधि की अवस्था में दीर्घकाल तक आनन्द की वर्षा होती रहती है जिसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता। महत्तत्त्व के लोक में जो मुक्त आत्माएं कारण शरीर में हैं योगी उनमें भी सूक्ष्मतम प्राण का साक्षात्कार करे।

रजःप्रधान प्राण के द्वारा चित्त के प्रदेश में आत्मसाक्षात्कार—योगी हृदय में प्रवेश करके चित्त के परिणामों का सूक्ष्मतम प्राण द्वारा स्पर्श करके अत्यन्त समीपवर्ती आत्मा का साक्षात्कार करे। चित्त में जो संस्कार कुलबुला रहे हैं उनका निरोध करके उनकी गतिविधि को देखे तथा उनकी स्वाभाविक उथल-पुथल पर नियन्त्रण करे। इस छोटे से चित्त में जो अनेक संस्कार, प्राण, अहंकार, आत्मा तथा परमात्मा एक साथ अपना संगठन सा बनाकर निवास कर रहे हैं, उन सब का पृथक्-पृथक् साक्षात्कार करे। इनका संघात ही कारण शरीर है। इन सब का भी प्रत्यक्षीकरण करे। स्थूल और सूक्ष्म शरीर का अध्यास और ज्ञान भाग उस काल में समाप्त हो जाते हैं और एक ऐसी अवस्था भी आ जाती है जब बुद्धि का भी सम्बन्ध नहीं रहता। केवल चित्त द्वारा 'अहमस्मि' का ही बोध निरन्तर चिरकाल तक बना रहता है। उस समय इस शरीरस्थ कारण शरीर और दिव्य लोकस्थ कारण शरीर में और इनके कर्मों में और उस दिव्य धाम वालों के कर्मों में क्या अन्तर होता है ? क्योंकि इस कारण शरीर में व्युत्थान काल में बहुत अन्तर होकर स्थूल व सूक्ष्म शरीरों से सम्बन्ध होता है और दिव्य महत्तत्त्व के लोक में व्युत्थान में भी अन्तर हो जाता है यथा वहां स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का नितान्त अभाव होता है। अतः वहाँ के अलौकिक ही व्युत्थान और निरोध होते हैं। इन सब का प्रत्यक्ष ज्ञान होना चाहिये। विचारणीय यह है कि इस छोटे से चित्त में ये इतने पदार्थ—संस्कार, प्राण, अहंकार, समष्टि चित्त आदि चार उपादान कारण, आत्मा और परमात्मा कैसे निवास करते हैं ? वास्तव में अहंकार तो पृथक पदार्थ है और साथ ही महत्तत्त्व का कार्य भी है। इनका संयोग सम्बन्ध है। आत्मा भी भिन्न पदार्थ है, इसका भी चित्त के साथ संयोग सम्बन्ध या व्याप्य-व्यापक-भाव सम्बन्ध है। इसे आश्रय-आश्रयीभाव सम्बन्ध भी कह सकते हैं। आत्मा और संस्कारों का चित्त के गर्भ में वास है। चित्त और संस्कारों का कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध भी है। परन्तु आत्मा विजातीय एवं पृथक् पदार्थ है और चित्त से इसका संयोग सम्बन्ध या व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध है। अतः चित्त में केवल संस्कार और वृत्तियाँ ही उत्पन्न होती हैं। शेष का संयोग-सम्बन्ध ही समझना चाहिये। आत्मा चित्त से सूक्ष्म है अतः उसकी व्याप्ति होने से चित्त में बाधक नहीं है। आत्मा चित्त से बड़ा और महान् भी है। वह चित्त को पार करके भी स्थित है परन्तु इस देश में अनुभूति होने से इसे इसके समान ही लघु कह दिया है। सूक्ष्मता और व्याप्ति के नाते से छोटा माना जायेगा। परन्तु इसको पार करके भी रहता है, अतः चित्त से अधिक महान् भी है। इससे भिन्न भी है और अभिन्न भी

है। परन्तु संस्कार और प्राण चित्त से भिन्न पदार्थ नहीं हैं। इसी में उत्पन्न होने वाली इसकी ही वृत्ति विशेष हैं।

संस्कारों की उत्पत्ति और स्थान—संस्कारों की पांच अवस्थाएं हैं—उदार, विच्छिन्न, तनू, प्रसुप्त, प्रलयोन्मुख या प्रलय में जाने वाले। (१) उदार संस्कार स्थूल शरीर में भोग देने और कर्म कराने में सदा वर्तमान रहते हैं। इनके द्वारा जीवनपर्यन्त कर्म और भोग होते रहते हैं। (२) विच्छिन्न संस्कार के लिये मानव सदा प्रयत्नशील बना रहता है। हेय और त्यागने योग्य पापजन्य संस्कारों का निरोध करके इनकी जड़ों को काटने का यत्न मानव करता रहता है परन्तु ये फिर भी उभरते रहते हैं। इनके उभरने और निरोध के बीच संघर्ष सदा होता रहता है। इनके निरोध होने पर सुख-शान्ति का अनुभव होता है। (३) 'तनू'—यह बार-बार के अभ्यास, ज्ञान और वैराग्य द्वारा सूक्ष्म हो जाते हैं। ये सूक्ष्म शरीर में भोग का हेतु बन सकते हैं इस लोक में भी और परलोक में भी। अर्थात् वे सूक्ष्म जगत् या स्वर्ग लोक में सामान्य भोग का हेतु बनते हैं। इनका निवास सूक्ष्म शरीरस्थ ब्रह्मरन्ध्र में होता है। ये स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर में भोग का हेतु हैं। सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा इनका भोग होता है। (४) 'प्रसुप्त' संस्कारों का स्थान (निवास) कारण शरीर के हृदय प्रदेश में है। इनकी प्रसुप्ति में आत्मानुभूति या ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती रहती है। उस समय वहां किसी भी प्रकार का इन्द्रियजन्य भोग नहीं होता है, केवल 'अहमस्मि' या 'त्वमसि' रूपेण ब्रह्मानुभूति का भोगरूप आनन्द होता है। (५) प्रलय काल में संस्कार प्रकृति की साम्यावस्था में विलीन हो जाते हैं। वहां किसी भी प्रकार का भोग नहीं होता। आत्मा के स्वरूप में इनकी स्थिति हो जाती है। संस्कारों की ये पांच अवस्थाएं होती हैं।

प्रश्न—क्या स्थूल शरीर के रहते हुए भी ये पांचों अवस्थाएं होती हैं ?

समाधान—प्रकृति अपने कार्यों का उपादान कारण होने से सदा उनके साथ ही रहती है। जैसे रुई वस्त्र में रहती है। कपास रुई के रूप में परिणत हुई, रुई धागों के रूप में, धागे वस्त्र के रूप में परिणत होते चले गये। इसी प्रकार प्रकृति भी कारण शरीर के रूप में परिणत हुई। तत्पश्चात् सूक्ष्म शरीर के रूप में परिणत होकर आई। तदनन्तर स्थूल शरीर में परिणाम-भाव को प्राप्त होकर आई। यह प्रकृति अपने कार्यों के साथ सर्वत्र रही। इसी प्रकार जो संस्कार उदार रूप में हैं और स्थूल शरीर को भोग दे रहे हैं, उनको अभ्यास, ज्ञान वैराग्य द्वारा पुनः-पुनः विच्छिन्न करते

रहने से वे तनू अथवा बारीक या सूक्ष्म हो जाते हैं, और फिर इनमें भोग देने की शक्ति नहीं रहती। ये तनू संस्कार सूक्ष्म शरीर में ठहर जाते हैं और सूक्ष्म शरीर में भोग देने लगते हैं अर्थात् सूक्ष्म शरीर में भोग देने योग्य हो जाते हैं। सूक्ष्म शरीर में भोग देकर ये क्षीण, निर्बल, शिथिल, वीर्यक्षीण अर्थात् नपुंसक की तरह कारण शरीर में पहुंचकर प्रसुप्त हो जाते हैं। कारण शरीर में इन्द्रियें, मन और बुद्धि का अभाव होने से वहां केवल अहंकार और चित्त ही शेष रहते हैं। इनके रहने से केवल आत्मा और परमात्मा के आनन्द का ही भोग होता है। चित्त में चेतन के आनन्द की अनुभूति होती है, अतः इस अवस्था में अन्य संस्कार प्रसुप्त हो जाते हैं। केवल आत्मा परमात्मा सम्बन्धी संस्कार ही जागृत रहते हैं।

प्रश्न—क्या प्रसुप्त संस्कार प्रलय-कालीन अवस्था में कारणरूप प्रकृति में विलीन हो जाते हैं?

उत्तर—प्रकृति की यह प्रलय-कालीन अवस्था तो अपने कारणरूप में योगी के साथ स्थूल शरीर में भी रहती है तथा स्थूल शरीर के अन्दर-बाहर इर्द-गिर्द भी रहती है। सूक्ष्मतम होने के कारण इसकी अनिर्वचनीय व्याप्ति सी बनी रहती है। आपने किसी महापुरुष योगी के सिर के चारों तरफ प्रकाश का घेरा (चक्र सा) देखा होगा, उसी प्रकार यह भी सूक्ष्म चक्र के रूप में रहती है। उसमें ही संस्कार प्रसुप्त होकर रहते हैं या उसमें चले जाते हैं। योगी उदार संस्कारों को विच्छिन्न करके तनू बना देता है। फिर उन्हें प्रसुप्त करके कारणरूप प्रकृति में विलीन कर देता है।

शंका—शंका होती है कि तब क्या विलीन संस्कार पुनः इस स्थूल शरीर में आकर भोग दे सकते हैं?

समाधान—यदि ये पुनः आकर शरीर में भोग देने लगें तब तो मोक्ष-प्राप्तिरूप पुरुषार्थ व्यर्थ हो जायेगा। अतः उनका कारणरूप प्रकृति में लीन होना ही यथार्थ लगता है, तब ही मोक्ष की सम्भावना हो सकती है। पुनः शंका हो सकती है कि अनन्त जन्मों के संस्कार प्रकृति में संचित पड़े हैं वे ही क्या आकर भोग देना प्रारम्भ नहीं कर सकते? नहीं, ऐसी सम्भावना नहीं है, क्योंकि तब तो कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकेगा; संस्कारों और जन्मों का अन्त ही नहीं होगा। मार्केट में जब किसी पदार्थ का कोई खरीदार नहीं होता तब वहां पदार्थ बनाकर भी कोई नहीं लाता। जिस पदार्थ की मांग या जरूरत होती है वही वस्तु लोग पैदा करके मार्केट में लाते हैं। आपकी जब भोगों से तृप्ति हो जायेगी तब भोक्तव्य पदार्थों से

आपका चित्त भी विरक्त या उपराम को प्राप्त हो जायेगा। उस दशा में आपके पास चाहे कितने भी भोग्य पदार्थ पड़े हों, आपके लिये वे सब बेकार ही होंगे। फिर आप उनका उत्पादन तथा संग्रह भी नहीं करेंगे। अतः इस जन्म के संस्कार और दूसरे जन्मों के संस्कार भोग देने के लिये उदय होकर नहीं आयेंगे।

शंका—प्रश्न उठता है कि ये संस्कार क्या किसी चक्र में क्रम-पूर्वक अंकित होते हैं या स्टोर की तरह इकट्ठे जमा होते हैं अथवा आकाश-मण्डल में ठहरे होते हैं ?

समाधान—जब इस स्थूल शरीर में स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण ये तीनों शरीर वर्तमान हैं तब उदार संस्कारों को क्रम-पूर्वक सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम होकर प्रकृति में ठहर जाना चाहिये; क्योंकि कारणरूप प्रकृति का मण्डल स्थूल शरीर के साथ रहता है। अतः स्थूल शरीर के उदार संस्कारों को बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। इसके साथ ही सब शरीर संयुक्त रहते हैं और उनका सम्बन्ध बना रहता है, क्योंकि चारों पदार्थों का तादात्म्य सम्बन्ध है। जैसे एक परिवार के व्यक्ति का सम्बन्ध पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र से रहता है और परायों की अपेक्षा अपनों से विशेष प्यार होता है इसी प्रकार स्थूल शरीर का सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम शरीरों के साथ विशेष सम्बन्ध रहता है। अतः इन सब शरीरों के अन्तर्गत ही उनके संस्कार भी रहेंगे। प्रत्येक कर्म के उदारात्मक संस्कार और तत्सम्बन्धी या तज्जातीय संस्कार क्रम-पूर्वक जाते रहते हैं और अपनी प्रकृति में पहुंचते रहते हैं। वहां उनका ठहराव होता है और प्रधान कर्म के प्रधान संस्कार और उसकी जाति वाले छोटे-छोटे गौण संस्कार भी साथ चले जाते हैं और उसी क्रम से प्रधान संस्कार के साथ उसकी जाति वाले गौण संस्कार भी लौट आते हैं। प्रधान कर्म के प्रधान संस्कार के साथ गौण संस्कार भी कर्मभोग आरम्भ होने पर और कार्यक्षेत्र के तैयार होने पर बलात् लौट आते हैं। उसकी जाति वाले गौण संस्कार भी साथ ही फल देना आरम्भ कर देते हैं। इनके क्रम-पूर्वक आने-जाने को आप रील की तरह भी कह सकते हैं। अन्त में जब ये प्रकृति के गर्भ में शरीर के आस-पास ठहरते हैं तब उस प्रकृति के शरीर को आप स्टोर की उपमा भी दे सकते हैं। जैसे एक उपदेष्टा उपदेश दे रहा है वह धाराप्रवाह एक ही विषय पर बोलता जा रहा है। उसी प्रकार ये संस्कार क्रम-पूर्वक रील की तरह ही अंकित या जमा होंगे। परन्तु ये स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर में, फिर कारण में और फिर कारणरूप प्रकृति के शरीर में जायेंगे जोकि चित्त के प्रदेश के साथ ही वर्तमान है। वह अन्दर भी है और बाहर भी वर्तमान

है। एक प्रकार से स्थूल, सूक्ष्म, कारण और कारणतम संस्कारों की प्लेटों की तह सी बनी हुई हैं जो मानव के संस्कारों को क्रम-पूर्वक धारण करती हैं। इसी प्रकार इन संस्कारों का गमनागमन बना रहता है। ये संस्कार अपनी जाति वाले संस्कारों के साथ ही जाते हैं और उसी भांति आते भी हैं। जाति वालों की भोग देने में सहकारिता होती है। मुख्य-मुख्य संस्कार बुद्धि और चित्त के स्टोर में रहते हैं और गौण प्रकृति के स्टोर में चले जाते हैं। जब प्रधान संस्कारों का भोग प्रारम्भ हो जाता है तब गौण संस्कार भी आकर फलोन्मुख बनकर प्रधान हो जाते हैं (जब तक परमज्ञान और परमवैराग्य नहीं होता)। यदि योगी कर्म करना छोड़ दे और उसे पूर्ण वैराग्य न हो तब पूर्व जन्मों के संस्कार आकर भोग देना प्रारम्भ कर देते हैं। उस अवस्था में पूर्वजन्मों के कर्मों और संस्कारों को भोग देने का अवसर प्राप्त हो जाता है अन्यथा उनको कोई अवसर नहीं मिल सकता है; क्योंकि भोगों और कर्मों का इच्छुक तो और अधिक कर्म-भोग और संस्कारों का उपार्जन करता रहेगा और वर्तमान के कर्म और फलात्मक संस्कार फलोन्मुख होते रहेंगे। अनेक जन्मों के शेष संस्कारों को तो आने का अवसर ही नहीं मिलेगा। ये संस्कार परमाणु से भी अति सूक्ष्म अनिर्वचनीय बीज के रूप में होते हैं। जैसे वट वृक्ष का बीज अपने में समग्र वट वृक्ष निहित रखता है, इसी प्रकार ये सूक्ष्म संस्कार भी हैं। यदि इन्हें संगठित करके सघन बनाया जाये तो असंख्य संस्कार मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय में रह सकते हैं। ये अग्नि और वायु के परमाणुओं से भी अति सूक्ष्म होते हैं। जागृत अवस्था में ये मस्तिष्क में गतिमान रहकर चिन्तन, मनन आदि कार्य करते रहते हैं। चार पांच इंच लम्बे चौड़े स्थान के आग्नेय परमाणुओं को यदि गिना जाये तो लाखों से भी अधिक देखने को मिलेंगे। इसी प्रकार इस मस्तिष्क और हृदय में भी करोड़ों से भी अधिक संस्कार ठहर सकते हैं।

यदि प्रौढ़िवाद से इस बात को स्वीकार कर लें कि अनेक जन्मों के संस्कार इस छोटे से मस्तिष्क और हृदय में नहीं ठहर सकते, तब विचार करना होगा कि जब प्रकृति-मण्डल भी इनके साथ ही जुड़ा, मिला, चिपका हुआ है तब ये संस्कार इसमें क्यों नहीं ठहर सकते ? यह कारणरूप प्रकृति का मण्डल तीनों शरीरों के बाहर और अन्दर रहता है। यह इनसे सूक्ष्म होने के कारण अन्दर और महान होने के कारण बाहर भी रहता है। इन चारों शरीरों का समुदाय प्रत्येक आत्मा के साथ रहता है। इस प्रकार समस्त सम्भव शंकाओं का समाधान इन युक्तियों, प्रमाणों और उदाहरणों से हो जाता है। प्रलय के समय चित्त जिन संस्कारों को लेकर कारणरूप प्रकृति में

लीन हुआ था, सृष्टि काल में उनको ही लेकर पुनः संसार में आता है। वे ही जन्म का हेतुरूप उदार बनकर भोग देना प्रारम्भ कर देते हैं। कुछ वर्तमान के अन्य कर्मफल भी पिछले संस्कारों के साथ मिलकर उदार बन जाते हैं। पुनः यही उदार संस्कार विच्छिन्नतम प्रसुप्त होकर कारणरूप प्रकृति में स्थिर हो जाते हैं। इस प्रकार संस्कारों का गमनागमन बना रहता है।

संस्कारों और प्राण का परस्पर सम्बन्ध—जिस प्रकार चित्त प्रदेश में संस्कार उदय होते हैं उसी प्रकार प्राण का प्रादुर्भाव भी चित्त प्रदेश में ही होता है। ये दोनों चित्त की ही वृत्तियाँ हैं। संस्कार ज्ञानात्मक वृत्ति है और प्राण कर्मात्मक वृत्ति है। **दोनों का ज्ञानात्मक और कर्मात्मक सम्बन्ध** है। दोनों मिलकर शरीरों का काम करते हैं। इस प्रकार दोनों का अन्योऽन्य आश्रय-श्रयीभाव सम्बन्ध है। उदारात्मक संस्कारों के साथ स्थूल शरीर में वायु महाभूत से उत्पन्न हुआ प्राण कार्य करता है। प्राण के विना संस्कारों का गमनागमन स्थूल से सूक्ष्म शरीर में नहीं हो सकता; क्योंकि प्राण ही गति और जीवन का आधार होता है। अतः संस्कारों को भी इसी के आश्रित मानना होगा। प्राणों के गमन के साथ संस्कारों का भी गमन होता है। प्राण स्थूल शरीर में गति का हेतु है और संस्कार ज्ञान का हेतु बनता है।

प्रश्न उठता है कि संस्कार और स्मृति में क्या भेद है? कोई-कोई आचार्य स्मृति और संस्कार को एक ही मानते हैं। किन्तु संस्कार और स्मृति में कुछ न कुछ अन्तर तो मानना ही पड़ेगा। दोनों ज्ञानात्मक हैं। परन्तु यदि संस्कार किसी पदार्थ का मूल कारण समझा जाये अर्थात् उसका अत्यन्त सूक्ष्म रूप समझा जाये तो स्मृति उस मूल कारण का स्मरण कराती है। स्मृति चित्त से पूर्व वर्तमान नहीं होती, परन्तु संस्कार पदार्थ का मूल कारण या सूक्ष्म रूप होने से स्मृति से पूर्व भी वर्तमान था (क्योंकि प्रसुप्त संस्कारों का प्रलय में गमन होता है)। प्रलय में चित्त के प्रसुप्त संस्कार जाकर अपने कारण में लीन हो जाते हैं। अतः इस प्रकार स्मृति और संस्कार में स्थूल और सूक्ष्म का भेद सिद्ध होता है। भले ही स्मृति और संस्कार का उपादान कारण चित्त ही हो परन्तु स्मृति चित्त से परे नहीं जाती और संस्कार पदार्थों के मूल कारण होने से प्रलय तक गमन करते हैं। चित्त में उत्पन्न होने वाली वृत्तियां संस्कार, स्मृति और प्राण है। इन तीनों में परस्पर थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। प्राण के कर्मप्रधान होने से स्मृति और संस्कारों में भिन्नता तो समझ में आती है किन्तु संस्कार और स्मृति में भेद की बात समझ में नहीं आती। बात यह है कि स्मृति कुछ स्थूल वृत्ति है और संस्कार कुछ सूक्ष्म वृत्ति है। किन्तु जब दोनों का जनक चित्त ही है तब स्थूल और सूक्ष्म की बात

भी समझ में नहीं आती है। संस्कार सूक्ष्म हैं स्मृति स्थूल है। संस्कार पहिले पैदा हुए हैं; स्मृति बाद से उत्पन्न हुई है।

पर देखना यह है कि संस्कार भिन्न-भिन्न पदार्थों के सूक्ष्म रूप हैं अथवा उनके सूक्ष्म उपादान कारण ? स्मृति पदार्थों के सूक्ष्म वा मूल रूप को दर्शाती और उसका उद्बोधन कराती हैं। चित्त में तो अन्य वृत्तियां भी पैदा होती हैं यथा प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा आदि। अतः संस्कार और स्मृति भी भिन्नता रख सकते हैं। संस्काररूप वृत्ति स्मृति से पूर्व उत्पन्न होगी। क्रमशः सर्वप्रथम संस्कार, फिर प्राण, तत्पश्चात् स्मृति वृत्ति की उत्पत्ति माननी होगी। संस्कार ज्ञानात्मक, प्राण कर्मात्मक, और स्मृति इन दोनों को अभिव्यक्त करने वाली वृत्ति होगी, अर्थात् स्मृति ज्ञान और कर्म दोनों की स्मरण कराने वाली वृत्ति होगी। इनके अतिरिक्त अन्य वृत्तियों का स्मरण भी स्मृति कराती है तथा करा सकती है। प्रलय काल में चित्त के स्मृति तथा संस्कार दोनों अति सूक्ष्म होते हुये समस्त समुदाय सहित सूक्ष्मतम होकर ही अपने कारण समष्टि चित्त में प्रवेश करेंगे। तत्पश्चात् समष्टि चित्त भी और अधिक सूक्ष्म भाव को प्राप्त होकर अपने उपादान कारण महत्तत्त्व में प्रवेश करेगा और अन्त में महत्तत्व भी अत्यन्त सूक्ष्म होकर सूक्ष्म संस्कारों सहित मूल प्रकृति में विलीन हो जायेगा। एक प्रकार से सूक्ष्म संस्कारों के एक वृहद् समुदाय ही का नाम प्रकृति है। इससे आगे अनवस्था ही आ जायेगी यदि इन संस्कारों या प्रकृति का और कोई परिणाम मानेंगे।

हम प्राण और संस्कार के परस्पर सम्बन्ध का कथन कर रहे थे कि जब संस्कार सूक्ष्म होकर तनूभाव से सूक्ष्म शरीर में ठहर जाता है जहां उसका सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर के प्राण से हो जाता है तब ये दोनों सूक्ष्म शरीर में मिलकर कार्य करते हैं और भोग भी प्रदान करते हैं। स्थूल शरीर के स्थूल संस्कार सूक्ष्म शरीर तक पहुंचते-पहुंचते सूक्ष्मभाव को प्राप्त होकर सूक्ष्म प्राण के साथ मिलकर कार्य करने में समर्थ हो जाते हैं। यहां सूक्ष्म प्राण स्पर्शतन्मात्रा से उत्पन्न होकर आता है और सूक्ष्म शरीर में गति प्रदान करने में सहकारी बन जाता है। तब सूक्ष्म संस्कार और सूक्ष्म प्राण दोनों मिलकर सूक्ष्म शरीर के कर्म और भोग का कारण बनते हैं। इन दोनों की सूक्ष्मता में अन्तर होता है। स्थूल शरीर में उदारात्मक संस्कार निरन्तर अभ्यास द्वारा विच्छिन्न होकर सूक्ष्म हो जाते हैं। निस्तेज, क्षीण-बल, नपुंसक की तरह बन जाते हैं। इस अभ्यास से ही संस्कारों में सूक्ष्मता आती है। तब ये स्थूल शरीर में भोग देने में असमर्थ हो जाते हैं। परन्तु सूक्ष्म शरीर में पहुंच कर ये सूक्ष्म भोग जरूर देते हैं। स्वर्ग लोक या सूक्ष्म जगत् में केवल सामान्य भोग ही होते हैं।

वहाँ स्थूल शरीर या स्थूल पंचभूतों के लोक के भोग नहीं होते (जब तक पुनर्जन्म या मोक्ष नहीं होता अथवा स्वर्गलोक की प्राप्ति नहीं होती)। परन्तु प्राण में इस प्रकार की सूक्ष्मता नहीं आती। सूक्ष्म शरीर में प्राण सूक्ष्म भूतों या पंचतन्मात्राओं के स्पर्श तन्मात्रा से उत्पन्न होकर आता है। किसी अभ्यास विशेष से यह सूक्ष्मता नहीं आती। जब सूक्ष्म शरीर का निर्माण सृष्टि के सृजनकाल में हो रहा था उस काल में स्पर्श तन्मात्रा परिणाम-भाव को प्राप्त होकर सूक्ष्म प्राण के रूप में उत्पन्न हुई थी। संस्कार और प्राण की उत्पत्ति या सूक्ष्मता में यही अन्तर है। अतः सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म संस्कार और सूक्ष्म प्राण मिलकर कर्म और भोग का सम्पादन करते हैं। जब योगी अभ्यास द्वारा संस्कारों को सूक्ष्म बना देता है और प्रसुप्त करके कारण शरीर में ले जाता है तब वहां चित्त से उत्पन्न हुए सूक्ष्मतर प्राण के साथ प्रसुप्त संस्कारों का सम्बन्ध हो जाता है। फिर इन प्रसुप्त संस्कारों को प्रकृति के प्रदेश या इसके उपादान कारणरूप प्रकृति के शरीर में भेज देता है। वहां ये प्रकृति के स्टोर में जमा हो जाते हैं। वैसे चित्त के प्रदेश में अन्य संस्कार भी मौजूद होते हैं जिनके द्वारा आत्मा या परमात्मा की अनुभूति होती है। केवल वे ही संस्कार प्रसुप्त हुए थे जो पहले इन्द्रियों द्वारा भोग का हेतु बने थे। जब उनकी आवश्यकता नहीं रही उनको प्रकृतिरूप कारणात्मक शरीर में भेज दिया गया। यदि उन संस्कारों की जो ऋतम्भरा और धर्ममेघ समाधि से उत्पन्न हुए हैं यहां भी प्रसुप्ति मान लें तब आत्मसाक्षात्कार और ब्रह्मसाक्षात्कार का हेतु कौन से संस्कार होंगे? यह विचार करना पड़ेगा। प्रसुप्ति केवल इन्द्रियजन्य संस्कारों के भोग की ही होती है न कि आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार के संस्कारों की। इन संस्कारों की प्रसुप्ति चित्त के साथ अपने उपादान कारण में लीन होने पर होगी, या मोक्ष प्राप्त होने पर होगी। अन्यथा प्रकृति के प्रलयकाल में होगी। आत्मा-परमात्मा के साक्षात्कार के समय प्राण का सम्बन्ध और धर्ममेघ के संस्कारों का सम्बन्ध बना रहता है। ये दोनों आत्मानुभूति और ब्रह्मानुभूति के समय सहायक बने रहते हैं। चित्त के इस छोटे से प्रदेश में किसी भी प्रकार की गति-विधि, जो संस्कारजन्य आत्म-साक्षात्कार वा ब्रह्मसाक्षात्कारजन्य होती है वह प्राण द्वारा ही होती है। संस्कारों का गमनागमन शरीर में प्राणों के द्वारा होता है और फिर वे क्रमपूर्वक प्रत्येक में गमन करते हुए अपने मूल कारण प्रकृति में पहुंच जाते हैं। प्रकृति द्वारा सृष्टिकाल में प्राण ही इन संस्कारो को जागृत करके भोग देने के योग्य बनाता है। अतः प्राण कर्म के रूप में और संस्कार ज्ञान के रूप में दोनों मिलकर सृष्टि निर्माण में मुख्य हेतु बन जाते हैं। ये दोनों ही तीनों शरीरों में रहकर भोग और मोक्ष प्रदान करते हैं या मोक्ष प्राप्ति

में सहायक होते हैं। प्रश्न होता है कि हम संस्कारों को जड़ मानें या चेतन? वास्तव में संस्कार जड़ ही हैं और चित्त में ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु चेतन के संयोग से इनमें भी चेतना सी आ जाती है या भासने लगती है।

शंका—आप आत्मा को भी ज्ञान-स्वरूप कहते हैं और संस्कारों को भी ज्ञान-रूप कह रहे हैं—इन दोनों के ज्ञान में क्या अन्तर है?

समाधान—केवल चेतना का ही अन्तर है। आत्मा चेतन है, चेतन होने से ज्ञानस्वरूप है। इसमें वृद्धि-ह्रास, या उत्पत्ति-विनाश कुछ भी नहीं होता। इसका सदा एकसमान नित्य, परिणामरहित, एक ही रूप रहता है। परन्तु संस्कारों में वृद्धि, ह्रास, सामान्य और विशेष ज्ञानरूप परिवर्तन होता रहता है, क्योंकि इनका स्वभाव परिणामी है। चित्त में इनकी उत्पत्ति होती है। आत्मा के सन्निधान से अथवा प्रकृति में इनकी उत्पत्ति होने से तथा ब्रह्म के सन्निधान से (प्रसुप्त अवस्था में ये प्रकृति में विलीन हुए थे) आत्मा और परमात्मा में किसी प्रकार का भी विकार या परिवर्तन नहीं होता। परन्तु चित्त और प्रकृति दोनों ही परिणामी तत्व हैं। जो गुण कारण में होंगे वही उसके कार्य में भी होंगे। किन्तु आत्मा के संयोग से चित्त ज्ञानरूप सा हो जाता है और उसका यह ज्ञानरूप ही संस्कारों को जन्म देता है। आत्मा में ज्ञान-रूपता स्वाभाविक है जो किसी निमित्त से नहीं आयी। ज्ञान तो उसका गुण या धर्म भी नहीं है, हाँ स्वरूप अवश्य है। संस्कारों में ज्ञान निमित्त से पैदा होता है। प्राण का इन दोनों के साथ सम्बन्ध रहता है, भले ही वह चित्त का धर्म क्यों न हो। संस्कारों को गतिशील करना प्राणों का ही धर्म है।

क्या चित्त और प्राण में कुछ अन्तर है? आत्मा और चित्त के संयोग से जो क्रिया सबसे पहले उत्पन्न होती है वही प्राण है। परम्परा से चले आ रहे संस्कार चित्त में ही उत्पन्न होते हैं। बाहर के कर्मों के संस्कार भी बीज रूप में चित्त में ही ठहरते या प्रादुर्भूत होते हैं अथवा चित्त पर इनकी छाप सी पड़ती है। प्राण, वृत्ति और संस्कार भी चित्त में ही उत्पन्न होते हैं। ये सब भी वृत्ति के अन्तर्गत ही हैं क्योंकि चित्त की अनेक वृत्तियां हैं। जब तक चित्त का आत्मा के साथ सम्बन्ध रहेगा, ये सब भी स्थित रहेंगे। तब विचार उठता है कि क्या चित्त में अपनी कोई गति या कर्म नहीं है? यदि हम गति या धर्म को इसका स्वभाव मान लें तब स्वभाव को प्रकट करने और कार्य-क्षेत्र में उदय होने के लिए चेतन आत्मा के संयोग की अपेक्षा चित्त को आवश्यक नहीं होगी और तब चित्त में स्वयं गतिरूप धर्म पैदा होना चाहिये जो चेतना के संयोग के बिना सम्भव नहीं है।

चित्त के अन्दर आत्मा का निवास है। संस्कारों तथा वृत्तियों का आवरण आत्मा को आच्छादित किये रहता है। जैसे एक तालाब पर काई जम जाती है किन्तु उसके नीचे निर्मल जल प्रवाहित रहता है उसी प्रकार इस चित्तरूपी तालाब पर संस्कार रूपी काई के नीचे आत्मारूपी निर्मल स्वच्छ जल स्थित है। योगी अभ्यास द्वारा चित्त पर पड़े संस्कारों को हटाकर आत्म-दर्शन करता है। चित्त के अन्दर के संस्कार उछल कर बाहर आ जाते हैं तब वे मन इन्द्रिय द्वारा भोग में परिणत हो जाते हैं और बाहर के शरीर-इन्द्रिय-मन से जो कर्म होते हैं उनके संस्कार बनकर चित्त में जमा होते रहते हैं। यह गमनागमन का व्यापार जीवन-पर्यन्त बना रहता है। योगी ज्ञान, वैराग्य तथा अभ्यास द्वारा इन संस्कारों को हटा कर ही आत्मा का दर्शन करता है। यह संघर्ष निरन्तर (जीवन-पर्यन्त) बना रहता है। इसके पास जन्म जन्मान्तरों के संस्कारों का इतना बड़ा सञ्चय है कि एक जन्म तो क्या सहस्रों जन्मों में भी इनकी समाप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि इनका आदि और अन्त ही दिखाई नहीं देता। जागृत, स्वप्न, निद्रा, समाधि किसी भी अवस्था में इनका अन्त नहीं ज्ञात होता। अहर्निश, सोते-जागते, कर्म करते, निष्क्रिय रहते कभी भी प्राण को विश्राम नहीं मिलता। शरीर में अन्य मल भले ही एक बार शान्त हो जायें किन्तु प्राण का जब तक आत्मा से सम्बन्ध रहेगा वह शान्त नहीं हो सकता। यह रजःप्रधान प्राण जीवन भर कुछ न कुछ कर्म करता ही रहेगा क्योंकि चंचलता इसका स्वाभाविक कर्म है। इसके रहते हुए सब प्रकार के पुरुषार्थ, ध्यान, समाधि, ज्ञान, वैराग्य आदि भी निष्फल हो जाते हैं। यथा—"किं करोमि क्व गच्छामि को प्राणेभ्यो उद्धरिष्यति" अर्थात् प्राण का सम्बन्ध आत्मा के साथ अत्यन्त निकटवर्ती है। यह बंधन का हेतु भी है और मोक्ष का भी। तब क्या यह प्राण चित्त से भिन्न अन्यत्र भी अपने उपादान कारणों का स्पर्श द्वारा प्रत्यक्ष कर सकता है? हाँ चित्त के समीपवर्ती पदार्थों को जो शरीर में वर्तमान हैं, यह स्पर्श द्वारा प्रत्यक्ष करने में अवश्य समर्थ है किन्तु दूर देश में तीनों शरीरों से जो भिन्न पदार्थ हैं उनका समाधि द्वारा ही प्रत्यक्ष हो सकता है। दूर देश के साथ मन की रश्मियों का सम्बन्ध करके इनका सम्बन्ध किया जा सकता है। इस प्रकार यह क्रम-पूर्वक, कार्य के कारणों तथा उनके भी कारणों का प्रत्यक्ष करता चला जाता है।

तमःप्रधान प्राण का कारण शरीर के चित्त में साक्षात्कार—कारण शरीर में चाहे इस लोक के स्थूल शरीर में हो या सूक्ष्म जगत् के सूक्ष्म शरीर में या महत्तत्व की सृष्टि के महत्तत्व लोक में हो, तमःप्रधान प्राण सर्वत्र कार्य करता है। तीनों शरीरों में इसकी स्थिति, कर्म और व्यापार भिन्न-भिन्न होते हैं। स्थूल शरीर

के भोग काल में इसके भोगों का भी भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। सूक्ष्म जगत् में भोगों का एकसमान साधारण सा ही प्रभाव रहता है। महत्तत्व लोक में कारण शरीर में इन्द्रिय भोग नहीं होते। वहां एकसमान स्थिति रहती है। किन्तु स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों में वृत्तियों का अन्तर होता जाता है। महत्तत्व लोक में प्राण का व्यापार तो रहता ही है परन्तु इन्द्रियजन्य सुख, दुःख नहीं होते। चित्त में शान्ति और आनन्द व्याप्त रहता है। जब हम स्थूल शरीर में चित्त का सम्बन्ध चेतन के साथ स्थापित करते हैं तब कुछ समय के लिए स्थूल और सूक्ष्म शरीर का भान ही समाप्त हो जाता है। कारण शरीर के चित्त में आनन्द की अनुभूति दीर्घ काल तक बनी रहती है। ऐसी ही आनन्दानुभूति महत्तत्व लोक में भी दीर्घ काल तक बनी रहती है। उस काल में भी तमःप्राण अत्यन्त न्यून अवस्था में रहता है। वहाँ उसका सर्वथा अभाव नहीं होता। उपनिषद् में इसकी महिमा इस प्रकार वर्णित है :—

> **"तस्य प्राचीदिक् प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणाः, उदीची दिगुदञ्चः प्राणा, ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा, अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः, सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते अशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्जतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः। स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वागच्छता -द्याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि।"**
>
> (बृहदारण्यक उ०—४-२-४)

भावार्थ—ऋषि याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को इस मन्त्र में स्थूल शरीर में दिशाओं को लक्ष्य करके प्राण के विषय में बताया कि पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर, नीचे सभी ओर प्राण कार्य करता है। आत्मा सब दिशाओं से पृथक्, कठिनता से ग्रहण करने योग्य है। इसका नाश नहीं होता यह असंग रहता है। बन्धन में भी नहीं आता। अतः हे राजन्! आप निर्भय हों जायें क्योंकि आप अमर हैं, बन्धन-हीन हैं। इस शरीर में प्राण की महती महिमा है। यहाँ इस ग्रन्थ में इसका विशद वर्णन कर दिया है।

इति ब्रह्मनिष्ठराजयोगाचार्योपाधिधारिणा श्री योगेश्वरानन्द सरस्वतिस्वामिना प्रणीते प्राणविज्ञाने प्राण-स्वरूप-वर्णनात्मक नाम सप्तमोऽध्यायः समाप्तः।

अष्टमोऽध्यायः

प्रकृति की साम्यावस्था में कारण-रूप अति सूक्ष्मतम प्राण का साक्षात्कार और ब्रह्मानुभूति

"प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, प्राणेन जातानि जीवन्ति।"
तैत्तिरीय उ०—३-३-१

अर्थात्—प्राण से ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं और प्राण से उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं।

योगी का चित्त एकाग्र होने पर समाधि द्वारा महत्तत्त्व के लोक से ऊपर उठकर प्रकृति की साम्यावस्था में प्रवेश करता है। अत्यन्त सूक्ष्मीकृत प्राण के सहयोग से वह कारण शरीर के भी कारण में प्रवेश करता है। तब उसमें सर्वत्र उसे सूक्ष्मतम प्राण की गति देखने में आती है। अब शंका होती है कि क्या यह गति प्रकृति की अपनी स्वाभाविक है या प्राण ही इसमें गति का हेतु बना हुआ है? जब प्रलयकाल की अवस्था में मूल प्रकृति से उत्पन्न प्राण गति का हेतु होता है तब उस प्रकृति के कार्य में भी तो वह प्राण-रूप शक्ति साथ ही जायेगी। अन्यथा उसमें गमन-रूप क्रिया कैसे होगी? पुनः यह क्रिया उसका गुण विशेष है या अवस्थान्तर रूप परिणाम हैं? अवस्थान्तररूप परिणाम में भी तो क्रिया होती है अन्यथा एक अवस्था से दूसरी अवस्था में कैसे पहुंचती? यह चलन रूप क्रिया पदार्थ में परिणाम-क्रम पैदा करती है। एक अवस्था से उसे दूसरी अवस्था में लाती है। नवीनता से पुराणता और पुराणता से नवीनता में लाती है। पुराणता से नवीनता में आने में क्या कारण है? उत्पत्ति और विनाश अर्थात् कार्य से कारण में आना और कारण से कार्य में जाना और फिर कारण में पहुंचकर नवीन-भाव पैदा होता है। एक स्थिति में रहने वाले पदार्थ में परिवर्तन नहीं होता है। परिवर्तन न होने से न्यूनत्व और जीर्णत्व पैदा नहीं

चित्र संख्या ६ का विवरण

प्रकृति की साम्यावस्था में कारणरूप अतिसूक्ष्म प्राण द्वारा आत्मा और ब्रह्म का साक्षात्कार

इस चित्र में गोलाई रखी गई है। बीच में आधा इंच चौड़ी प्राण की धारा दिखाई गई है जो प्रकृति और ब्रह्म का भेद सिद्ध करती है। इसमें नीले वर्ण की टेढ़ी रेखाएँ ब्रह्म की द्योतक हैं। प्रकृति के मण्डल में तिरछी नीली रेखायें प्राण की हैं और श्वेत रेखायें ब्रह्म की प्रतीक हैं। प्रकृति का कुछ-कुछ पीत वर्ण दिखाया गया है। कुछ-कुछ नीले वर्ण की रेखाएँ प्रकृति में प्राण की उत्पत्ति और कम्पन का भास देती हैं। यह प्राण प्रलयकाल में सूक्ष्म रूप से प्रकृति में गति बनाए रखता है। एक तरह से स्फटिक मणि के समान बिल्कुल श्वेत निर्मल ब्रह्म प्रकृति में तैरता हुआ सा दिखाया गया है। अचल निष्क्रिय होते हुए भी तरंगित सा दिखाया गया है।

1
2
3
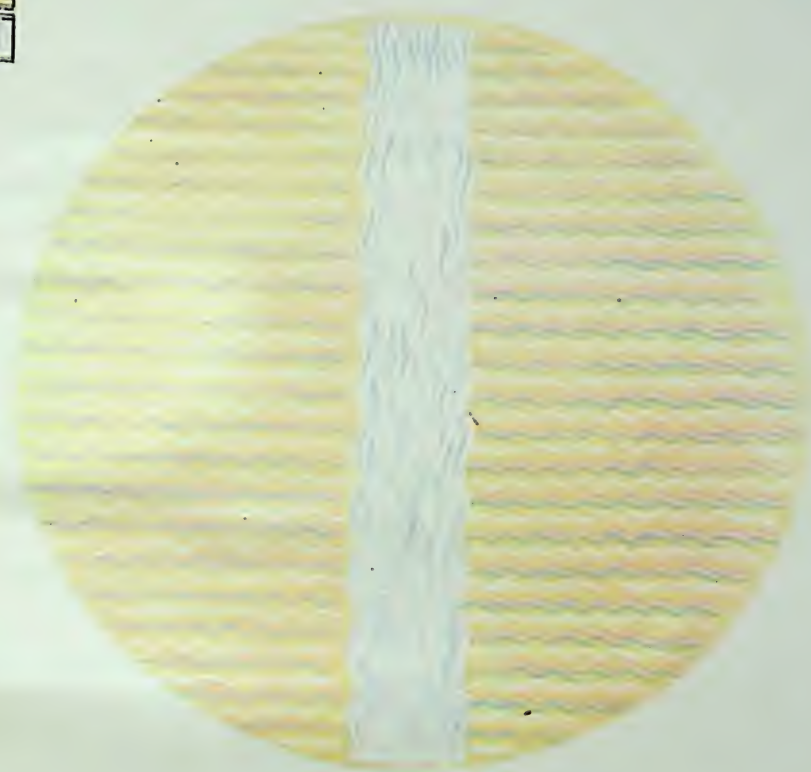
होते। परिवर्तनशील पदार्थ में ही पुराणता और नवीनता आती है। एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाने से विशेष गुण पैदा होता है। इसमें गुण-गुणी का भेद भी है और अभेद भी। जब कोई पदार्थ एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुंचता है तब उसमें धर्म-लक्षण-अवस्था परिणाम पैदा होते हैं। ये धर्म, लक्षण, अवस्था परिणाम ही गुण-गुणी-भाव सम्बन्ध वाले होते हैं। वैसे गुण कोई अलग पदार्थ नहीं है अपितु पदार्थ का ही रूपान्तर होता है। कई आचार्य गुण को भिन्न पदार्थ मानकर आश्रय-आश्रयी-भाव सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु वास्तव में यह एक ही पदार्थ का रूपान्तर है। प्रकृति के धर्म या गुण ज्ञान क्रिया, स्थिति कहे जाते हैं। ये इसके स्वाभाविक गुण हैं जो इसके कार्यों में भी साथ चलते हैं। जब कारण कार्य में परिणत होकर जाता है तब यहं बिना क्रिया या कर्म के कैसे गमन करेगा? इसी क्रिया या कर्म या गति को हम प्राण-शक्ति कहते हैं। यह प्रकृति में नित्य बनी रहती है। मन्द, तीव्र, तीव्रतम रूप में प्रकृति को सदा गतिशील बनाये रखती है। यदि यह गति स्वाभाविक धर्म है तो यह सदा प्रकृति के साथ बनी ही रहनी चाहिये। वैसे तो यह सदा बनी ही रहती है। एक क्षण के लिये भी प्रकृति में इसका अभाव नहीं होता। प्रलय, सृजन और स्थिति—तीनों कालों में कभी सामान्य और कभी विशेष रूप से गतिरूप प्राण-शक्ति का कर्म होता ही रहता है। सूक्ष्म-प्राण की गति प्रलय काल में सामान्य, तथा सृजन काल में विशेषरूप में रहती ही है। प्राण ही इसमें गति का हेतु बना रहता है। उपनिषद् इसमें प्रमाण है। यथा—**"अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्"** (प्रश्न उ०–२–६)। जैसे रथ के पहिये में छोटे-छोटे अरे लगे होते हैं, इसी प्रकार प्राण में जड़ पदार्थ स्थित हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रकृति की साम्यावस्था में प्राण की सूक्ष्म गति रहती है। परन्तु इस शरीर में तो प्राण की बात समझ में आती है कि प्राण के आश्रय यह शरीर जीवित है और गतिशील है। लेकिन जड़ प्रकृति में तो जीवन की कोई बात दिखाई नहीं देती। तब क्या वहां प्राण शक्ति नहीं रहती? इसका समाधान यह है कि हमारा शरीर भी जड़ ही है। जब इसमें से प्राणशक्ति निकल जाती है तब यह भी मुर्दा हो जाता है तथा मिट्टी की तरह निर्जीव बन जाता है। जब तक इसमें प्राण रहता है जीवित बना रहता है, प्राण के निकल जाने पर जड़ मिट्टी बन जाती है। इसी प्रकार प्रलय काल में प्रकृति में प्राण ही गति का हेतु बना रहता है। उस समय प्रकृति में विद्यमान् गति ब्रह्म के संयोग से प्राण की ही होती है। इस क्रिया या गति का नाम हमने प्राण रखा है। यह प्राण शक्ति प्रकृति में प्रत्येक काल, प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक अवस्था में रहती है, क्योंकि प्रकृति के साथ चेतन ब्रह्म का नित्य

सम्बन्ध रहता है। यह सदा ब्रह्म के सान्निध्य में क्रियाशील बनी रहती है। यह चेतन-सत्ता, सर्वात्मा, परमब्रह्म, सर्वव्यापक, सब से सूक्ष्म सर्वत्र विभु है। एक क्षण भी यह प्रकृति को शान्त भाव से निष्क्रिय नहीं बैठने देती। इसके स्वाभाविक गुणों को उद्‌बुद्ध या जागृत करने में इसी की महानता तथा सर्वशक्तिमत्ता हेतु है। इस चेतन के सान्निध्य से सर्वप्रथम प्राण-शक्ति का ही प्रादुर्भाव हुआ है। प्राण ही प्रकृति में रहकर उसे सतत क्रियाशील बनाये रखता है। तथा उसमें परिणाम-क्रम, अवस्थान्तर धर्म पैदा करता रहता है। यदि सर्वप्रथम परिणाम-क्रम मानें तो प्राण द्वारा आकाश, दिशा और काल का प्रादुर्भाव मानना होगा। तत्पश्चात् ज्ञान, क्रिया, बल (स्थिति) अर्थात् सत्त्व, रज, तम की उत्पत्ति माननी होगी। वास्तव में ये अवस्थायें महत्तत्व की सृष्टि से पूर्व ब्राह्मी सृष्टि की अवस्थायें हैं। ये अवस्थायें मिलकर महत्तत्व की सृष्टि करती है। इनमें प्राण शक्ति प्रलयकाल की अवस्था को क्रियाशील बनाती हैं। यह प्राण-शक्ति इन सब अवस्थाओं के साथ चलकर प्रकृति में धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम उत्पन्न करती है। शक्ति और शक्तिमती प्रकृति की सूक्ष्म और सर्वोत्तम शक्ति प्राण है। जिस प्रकार मानव देह में प्राण-शक्ति क्रिया का हेतु है उसी प्रकार चेतन ब्रह्म के सान्निध्य से प्रकृति में प्राण-शक्ति प्रलयकाल में अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया की हेतु बनी रहती है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रलयकाल में भी तीन पदार्थ रहते हैं :—१—प्रकृति, २—प्राण और ३—ब्रह्म।

प्रश्न उठता है कि क्या प्रलयकाल में प्राण प्रकृति से भिन्न रहता है या अभिन्न ?

प्रकृति की सूक्ष्म क्रिया, जिसका नाम प्राण है, जो उसमें सदा रहती है, उससे भिन्न भी है और अभिन्न भी है। भिन्न इसलिये है कि उसमें क्रिया का हेतु है। यदि इसमें यह प्राण न हो तो क्रिया भी नहीं हो सकती। और अभिन्न इसलिये है कि यह प्रकृति से अलग नहीं हो सकती और न कभी हुई थी, न अब है और न भविष्य में होगी। प्रकृति की शक्ति ही प्राण है। इसे धर्म या गुण अथवा परिणाम विशेष या दूसरी अवस्था, जो कारण से कार्य में परिणत हुई है, कह सकते हैं। इससे पूर्व निष्क्रिय थी। इसके कारण ही यह क्रियाशील हो गई तथा एक अवस्था से दूसरी अवस्था में आ गई और गतिशील हो गई। सामान्य और विशेष भी इसके धर्म हैं। सामान्य इसमें प्रलयकाल में रहता है और विशेष, जब वह सृजन करती है, तब होता है। इसका साक्षात्कार योगी को होता है। इसकी परिवर्तित होती हुई अवस्थाओं का अनुभव योगी को सम्प्रज्ञात समाधि में होता है। यह क्रम-पूर्वक बदलती हुई अन्त में पृथिवी में जा पहुँचती है और फिर सूक्ष्म होती हुई क्रम-पूर्वक अपने कारण स्वरूप में आ जाती है। इसी प्रकार आत्मा से सम्बन्ध रखने पर स्थूल,

सूक्ष्म, तथा कारण शरीरों का भी योगी साक्षात्कार करता है। ये दोनों विज्ञान, ब्रह्म के सम्बन्ध से प्रकृति का और जीवात्मा के सम्बन्ध से तीनों शरीरों का, योगी को होते हैं। इसके पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधि में इन दोनों के संस्कारों के निरोध की बात रह जाती है। जब योगी पुनः पुनः संस्कारों का निरोध करता है तब उस अभ्यास से कुण्ठित और तनू होकर उसके अनन्तर ये प्रसुप्त हो जाते हैं। इनकी प्रसुप्ति ही निरोध कर्म का फल होती है। इसको योगी मुक्ति या मोक्ष कहते हैं। परन्तु जिस पदार्थ में कार्य-कारणरूप भाव है उसका गमनागमन अवश्य मानना होगा। प्रलय काल में जाने से पूर्व यह संस्कार भी जो कि पहले कार्य रूप में थे जीर्ण-शीर्ण और क्षीण से हो जाते हैं। नूतन भाव को प्राप्त होने के लिये कारण में चले जाते है, क्योंकि अब उनके भोग समाप्त हो जाते हैं। परन्तु जो गये हैं उन्हें पुनः लौट कर आना है। इन शरीरों में जो संस्कार थे वे भी इनके साथ ही अपने कारण में विलीन हुये हैं। चार अरब वर्ष से अधिक काल तक प्रकृति साम्यावस्था में रहकर बलवती, शक्तिशालिनी और सामर्थ्ययुक्त पूर्णयुवती सी होकर पूर्ववत् (यथा पूर्वमकल्पयत्) वेद वाक्य के अनुसार पुनः संसार के सृजन के योग्य हो जाती है।

शंका—चार अरब वर्ष तक कारणरूप प्रकृति की प्रसुप्ति मानी गई है। पर इसकी गणना या निर्णय—कि इतने वर्ष तक वह प्रसुप्त रहेगी, कौन करता है? क्योंकि परमात्मा तो अकर्त्ता है, मनुष्य उस समय होते नहीं हैं, प्रकृति स्वयं जड़ होने से ऐसा करने में असमर्थ है, उसे अपने उठने और जागने तक का ज्ञान नहीं होता, तब कौन इसे जगाता और बतलाता है कि चार अरब वर्ष या इससे अधिक वर्ष हो गये हैं, अब तू उठ, जाग और संसार का सृजन कर?

समाधान—प्रकृति का शयन और जागरण अर्थात् प्रलय और सृष्टि इस वर्तमान रात्रि और दिवस के समान हैं। इन संसारी जीवों मानव आदि को कौन जगाता है कि अब तेरा सोने का समय समाप्त हो गया है और दिन का समय आने वाला है? स्वाभाविक रूप से ही रात्रि जाती है और दिन आता है। इस अन्धकार और प्रकाश को ही रात और दिन का नाम दे दिया गया है। अपनी बुद्धि से ही हमने क्षण, पल, घड़ी, घण्टा, दिन-रात, सप्ताह, मास, वर्ष, युग, कल्पादि बना लिये या मान लिये हैं। इसी प्रकार प्रलय और सृजन के काल भी लगा दिये हैं। इस गणित के आधार पर हमारे ज्योतिषी १२ अरब वर्ष तक की गणना कर पाये थे कि चार अरब वर्ष प्रलय, चार अरब वर्ष सृष्टि, दो अरब वर्ष उत्पत्ति और दो अरब वर्ष विनाश में लगते हैं। परन्तु वर्तमानकालीन ज्योतिषी सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में

८ अरब वर्ष तक पहुंच गये हैं। इनके हिसाब से २४ अरब वर्ष होते हैं। अभी इस आधुनिक गणना को भी यथार्थ नहीं कहा जा सकता है। यह युग विज्ञान का है। बुद्धि द्वारा अनुसन्धान और प्रत्यक्ष करने का है। अतः सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के विषय में ज्योतिर्विद अभी भी सन्दिग्ध ही हैं। ये गणनायें हमारी पृथिवी के सूर्यमण्डल से ही की गई हैं। परन्तु और भी तो अनेक, इस सूर्य से भी बड़े महान् सूर्य इस सृष्टि में वर्तमान हैं जिनका अन्त देखने में या सुनने में नहीं आता है। हो सकता है कि इस गणना से भी अधिक समय उनकी सृष्टि और प्रलय आदि में लगता हो। यह कालावधि मनुष्यों ने निर्धारित की है। अन्दाजे लगाये है, कल्पनाएं की हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी पृथिवी सम्बन्धी सूर्य के दिन-रात को लेकर ही इस पृथिवी वासियों ने समस्त प्राणियों और इस पृथिवी ग्रह के प्रलय या विनाश की बात कही होगी। दूसरे सूर्य-मण्डलों के दिन और रात तो हमारे दिन-रात से बहुत बड़े हैं। अतः उनके समय का अन्दाजा लगाना संभव नहीं है। जिन लोकों में वर्तमान वैज्ञानिक गये हैं जैसे चन्द्रलोक आदि, उनके पत्थर मिट्टी आदि के परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि पृथिवी को उत्पन्न हुए ८ अरब वर्ष हो चुके हैं।

हम संसार के पदार्थों में उत्पत्ति और विनाश (जीर्णत्व) देखते हैं। ये प्रकृति के ही कार्य हैं और ये दृश्यमान् लोक लोकान्तर कभी न कभी जीर्ण-शीर्ण अवश्य ही होंगे जैसे बहुत से, दो चार सौ या हजार वर्ष पूर्व बने भवन खण्डहर होकर पृथिवी में मिल जाते हैं। यथा हमारे पूर्वजों के बनाए मकान जीर्ण-शीर्ण होकर खण्डहर हो रहे हैं और एक दिन सब नष्ट होकर इसी पृथिवी में समा जायेंगे। इसी प्रकार हमारी पृथिवी, ये लोक लोकान्तर सभी कभी न कभी जीर्ण-शीर्ण होकर अपने कारण में, जिससे ये उत्पन्न होकर आए हैं, चले जायेंगे। परिणामी पदार्थों में तो विनाश और उत्पत्ति और स्थिति सदा ही अवश्य रहेगी। इन सब की गति के लिये एक निमित्त कारण किसी अन्य अव्यक्त चेतन को ही मानना होगा और उसे प्रकृति में व्यापक, उससे भी सूक्ष्म, निरवयव, निष्क्रिय, सर्वविकार-मुक्त, अनिर्वचनीय चेतन सत्ता के रूप में स्वीकार करना होगा।

इसी प्रकार मानव शरीर में भी चेतन सत्ता स्वीकार करनी होगी। इसके निकल जाने पर मुर्दा शरीर में सब प्रकार की चेष्टाओं का अभाव हो जाता है। अतः क्रिया का हेतु प्रधानरूपेण संयोग-मात्र से चेतन आत्मा ही सिद्ध होता है। प्रलयकाल में चेतन ब्रह्म के सान्निध्य से प्रकृति में क्रिया बनी रहती है। वह गति सर्वप्रथम प्राण के रूप में होती है। अभी तक हम प्रधान के रूप में प्रकृति और शरीर

में गति का हेतु प्राण को ही कहते आए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सर्वव्यापक चेतन के सान्निध्य से प्रकृति और एकदेशी चेतन के सान्निध्य से शरीर में गति होती है। इन दोनों में चेतन के संयोग से परिणाम-क्रम पैदा होता है, प्राण के रूप में सर्वप्रथम परिणाम या विकार प्रारम्भ होता है अर्थात् प्रकृति और शरीर गतिशील होते हैं। ये प्राण प्रकृति और शरीर के गतिशील होने पर सर्वप्रथम परिणाम हैं। ये इन दोनों के विकार हैं, चेतन के नहीं। चेतन (ब्रह्म और जीव) तो सूक्ष्मता के कारण इनके गर्भ में वर्तमान हैं और निष्क्रिय होकर ठहरे हुए हैं। अतः प्रकृति और शरीर में प्राण द्वारा ही कर्म, गति, क्रिया, अवस्थान्तर परिणाम होता है। प्राण में चेतन निमित्त कारण है और प्रकृति और शरीर प्राणों के प्रति उपादान कारण हैं। केवल सान्निध्य मात्र से इसे निमित्त कारण माना है, उपादान कारण नहीं। कर्तृत्व धर्म या गुण के कारण नहीं। अतः प्रकृति और शरीर में प्राण की ही प्रधानता है। जड़ में कर्म होने के लिये, भुक्ति-मुक्ति, जीवन-मरण, उत्पत्ति-स्थिति और विनाश में यह प्राण ही प्रधान साधन है। शंका होती है कि जब सर्वत्र आप प्राण की ही प्रधानता मानते हैं तब चेतन की क्या आवश्यकता है? वायुयान, रेल, मोटर आदि में उड़ने तथा चलने की शक्ति है परन्तु ये स्वयं नहीं चल सकते। गति के लिये किसी चालक की अपेक्षा रखते हैं। उसके चलाने से ही चलते और रोकने से रुकते हैं। इसी प्रकार शरीर और प्रकृति जड़ हैं किसी चेतन की अपेक्षा या सहायता की आवश्यकता इनको भी होती है। यदि शरीर और प्रकृति में चेतन न हो तो पत्थर की तरह निष्क्रिय हो जायेंगे। इनमें गति-विधि चेतनमात्र के संयोग से प्रारम्भ होती है। शंका हो सकती है कि जब प्राण इन दोनों का स्वाभाविक गुण है तब प्राण द्वारा ये सदा कर्म करते रहेंगे। परन्तु ऐसा नहीं है। स्वभाव को जागृत या प्रगट करने में किसी अन्य पदार्थ को निमित्त मानना होगा और वह चेतन के अतिरिक्त और कोई देखने में नहीं आता। थोड़ी देर के लिये हम यदि चेतन को न मानकर अवकाश (आकाश) को गति का हेतु मान लें, क्योंकि बिना अवकाश के शरीर भी गति नहीं कर सकता और प्रकृति में भी गमनरूप क्रिया नहीं हो सकती, तब क्या समस्या का समाधान हो सकता है? सर्वत्र ही सूक्ष्म और महान् पदार्थ अवकाश का हेतु होता है। जैसे इस ब्रह्माण्ड में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु से आकाश सूक्ष्म और महान् है और यही इन सब की गति और क्रिया का हेतु बना हुआ है। इसी प्रकार चेतन ब्रह्म भी प्रकृति से सूक्ष्म और महान् है। इसकी सीमा में ही प्रकृति को गमन करने का अवसर प्राप्त होता है। इसी सर्वव्यापक चेतन में प्रकृति सदा क्रियाशील बनी रहती है। दो पदार्थों का संयोग ही गति का

हेतु माना जाता है। प्रकृति का बना आकाश प्रकृति से भिन्न तो है नहीं, उसी से उत्पन्न होने वाला है। यदि प्रकृति से भिन्न होता तो संयोग का हेतु होता, फिर इसमें अवस्थान्तर परिणाम न होता। यदि आप आकाश को भिन्न पदार्थ मानते हैं तब प्रश्न उठता है कि वह नित्य है या अनित्य? अनित्य है तो उसका उपादान कारण कौन है? प्रकृति से भिन्न तो कोई ऐसा पदार्थ दिखाई नहीं देता। यदि नित्य मानते हैं तो क्या वह जड़ है या चेतन? यदि जड़ है तो वह प्रकृति के समान हुआ और यदि चेतन है तो ब्रह्म के समान होना चाहिये। अतः इन दो—प्रकृति और चेतन ब्रह्म से भिन्न कोई अन्य पदार्थ दृष्टिगोचर या अनुभव में नहीं आता है।

प्रश्न—यदि चेतन को न मानकर संस्कार और प्राण को प्रकृति में मान लें तब?

उत्तर—लेकिन तब आपके ये संस्कार और प्राण कहाँ से आये हैं? यदि ये प्रकृति में ही उत्पन्न हुये हैं तब तो ऐसा होगा जैसे कोई मनुष्य पिता के बिना माता से ही उत्पन्न हो जाये। लेकिन ऐसा तो संसार में देखने या सुनने में नहीं आता। अतः संस्कार और प्राण की उत्पत्ति में कोई निमित्त कारण अवश्य होना चाहिये और वह चेतन ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई हो नहीं सकता। भले ही प्राण से प्रकृति गतिशील होकर आगे बढ़ी है परन्तु यह तो उसी का परिणाम विशेष संस्कार के और प्राण के रूप में है। यह निमित्त कारण नहीं है। ये संस्कार और प्राण कर्मभोग और मोक्ष में मुख्य रूप से सहायक होते हैं। इनके बिना मानव का और संसार का कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। इन दोनों को ज्ञान और कर्म के रूप में प्रकृति के गुण-धर्म ही समझना चाहिये। तीनों शरीरों में इनकी ही महानता है। प्रकृति में भी यही विकार और परिणाम करने में अग्रणी होकर सृष्टि का सृजन, स्थिति और विनाश करते हैं।

प्रश्न—क्या उस साम्यावस्था का भी योगी प्रत्यक्ष कर सकता है?

उत्तर—प्रलय काल में तो योगी होगा ही नहीं। तीनों शरीर अपने उपादान कारण में विलीन हो जायेंगे तब प्रत्यक्ष किसका होगा? इस वर्तमान अवस्था में ही योगी समाधि की अवस्था में कारण शरीर में प्रकृति और ब्रह्म की व्याप्ति को प्रत्यक्ष करता है; क्योंकि चित्त के ऊपर प्रकृति भी वर्तमान रहती है और उसमें ही ब्रह्म की व्याप्ति। ये दोनों ही सबसे अन्तिम, सबसे सूक्ष्म तथा अत्यन्त समीपवर्ती पदार्थ हैं। जब कारणरूप प्रकृति का साक्षात्कार होता है तो ब्रह्म की व्याप्ति

की अनुभूति होती है। तब दोनों का संयोग और दोनों की परस्पर व्याप्ति का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इन दोनों के स्वरूपों का वाणी से वर्णन नहीं हो सकता। दोनों के स्वरूप भिन्न-भिन्न, अनिर्वचनीय और अकथनीय हैं। उस काल में आनन्द की जो विशेष अनुभूति होती है, उसका भी कथन नहीं किया जा सकता है। न उसकी कोई तुलना या उपमा हो सकती है। वह आनन्द स्वयं अन्तःकरण-वेद्य है।

प्रश्न—आपने 'आत्म-विज्ञान' ग्रन्थ में प्राणमय कोश को वर्णन कर दिया था फिर प्राण के विषय में और लिखने की क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—'आत्म-विज्ञान' ग्रन्थ में प्राणमय कोश को आत्मा और परमात्मा के साक्षात्कार में प्रधान साधन नहीं माना था। इस ग्रन्थ में तो प्राण के माध्यम से ही आत्मानुभूति और ब्रह्मसाक्षात्कार में मुख्य हेतु या साधन माना है और प्राण के विस्तार के साथ ७० प्रकार के भेद सिद्ध किये हैं। आत्म-विज्ञान ग्रन्थ में केवल स्थूल शरीर में प्राणमय कोष को सहकारी उपादान कारण के रूप में कहकर शरीर-विज्ञान की बात कही है। इतना वड़ा विस्तार वहां नहीं किया है। परन्तु यहां 'प्राण-विज्ञान' ग्रन्थ में विशेष रूप से स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों और प्रकृति में इसकी महत्ता दर्शायी गई है और इन सबमें गति का प्रधान हेतु माना है। तोनों शरीरों में जीवन का आधार आत्म-ज्ञान के प्रति प्रधान साधन प्राण को माना है। प्राण के द्वारा आत्म-साक्षात्कार के अनेक उपाय और साधनों का वर्णन किया है। इसी प्रकार ब्रह्म साक्षात्कार भी प्राण के द्वारा होता है। इसका भी विस्तार-पूर्वक उल्लेख है। इस प्राण के द्वारा आत्मा और परमात्मा की स्पर्श द्वारा अनुभूति या साक्षात्कार माना है। यही इस 'प्राण-विज्ञान' ग्रन्थ की विशेषता है।

प्रश्न—क्या आत्मा और परमात्मा साकार पदार्थ हैं जो आप इनका प्राण द्वारा स्पर्श मानते हैं।

उत्तर—जिस चित्त में आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार होता है वहां आप उन दोनों की उपस्थिति और सत्ता तो मानेंगे ही और संयोग सम्बन्ध भी मानेंगे। वहां इस चित्त की क्रिया-विशेष या गतिविधि का हेतु प्राण को मानते हैं या वृत्ति या कर्म होना रूप प्राण से ही मानते हैं ? तब इसके कर्म का सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा से भी होता है। उस काल में इस प्राण के कर्म या गति द्वारा

परमात्मा के साथ स्पर्श रूप सम्बन्ध होता है। ये दोनों भावात्मक पदार्थ वहां वर्तमान हैं। कोई अभाव तो है नहीं। चित्त के परिणाम-क्रम का सम्बन्ध भी वहां समाधि की अवस्था में होता है। ज्ञानरूप संस्कार, कर्मरूप प्राण—ये दोनों चित्त की वृत्तियाँ वहां आत्मा के साथ या परमात्मा के साथ सम्बन्ध बनाये रखती है, क्योंकि योगी समाधि में इनके द्वारा चेतन का अनुभव या साक्षात्कार नहीं कर सकता। हमारे अनुभव में तो उस अवस्था में चेतन का प्रत्यक्ष एक अलौकिक और अनिर्वचनीय रूप में ही होता है। बिना रूप के तो संसार में कोई पदार्थ है नहीं और ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं है जो कर्म और ज्ञान (प्राण और संस्कार) के द्वारा प्रत्यक्ष न होता हो। अतः प्राण द्वारा चेतन का स्पर्श मानना होगा और संस्कार (ज्ञान) द्वारा उसके प्रत्यक्ष की अनुभूति माननी होगी। ये दोनों साथ मिलकर प्रत्येक पदार्थ का साक्षात्कार कराते हैं। उसमें प्रकृति, आत्मा, ब्रह्म और प्रकृति के समस्त कार्य आ जाते हैं। अतः इस प्राण के द्वारा स्पर्श से आत्मा और परमात्मा के प्रत्यक्ष-विशेष की बात कही गई है और परस्पर सम्बन्ध भी दर्शाया गया है। तीनों प्रकार के शरीरों के साथ उसका विशेष सम्बन्ध और अनुभव में उसे मुख्य साधन माना है। इसके बिना जीवन ही नहीं बनता और न सिद्ध होता है। यही तीनों शरीरों में जीवन को वहाकर ले जाता है। शरीर और प्रकृति इसके बिना पंगु हैं, सर्वथा असमर्थ हैं। प्रकृति भी इसके बिना निष्क्रिय जड़ है। प्राण ही इस जड़ को चेतन सा बनाकर सब काम कराता है। चेतन की अभिव्यक्ति अचल होते हुए भी चेतन को चल सा यह प्राण बना देता है। जड़ प्रकृति और चेतन ब्रह्म' के सम्बन्ध को भी यही बनाता है और दोनों को दर्शाता भी है। इसके बिना दोनों अचल से रहते हैं। यही दोनों को चलायमान करता है। एक प्रकार से प्रकृति और ब्रह्म अचल भी हैं और चल भी हैं। परन्तु यह प्राण दोनों में कर्तृत्व रूप धर्म पैदा कर देता है। इसी कारण बहुत से आचार्यों ने ब्रह्म को कर्त्ता मान लिया है। परन्तु प्राण के कारण ही उनको ब्रह्म में कर्तृत्व धर्म भासने लगता है यद्यपि ऐसा है नहीं। वास्तव में प्रकृति इसके बिना निष्क्रिय सी रहती है। यही इसको क्रियावान् बनाता है। और एक प्रकार से उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व-धर्म उत्पन्न कर देता है। यह सब इस प्राण की ही महिमा है। प्राण में निहित शक्ति ही पदार्थों में नवीनता और जीर्णता पैदा करती रहती है। प्रकृति में कार्य करने की शक्ति और नूतनत्व जीर्णत्व इसी के द्वारा आता है। जहां यह नहीं होगा वहां नवीनता और पुराणता भी पैदा नहीं होंगे। यही इन शरीरों और ब्रह्माण्ड के पदार्थों को अनन्त काल तक क्रियाशील बनाये रखता है। अपने स्पर्शरूप धर्म से जड़ और चेतन के सुख-दुःख का कारण

भी यही बना रहेगा। चेतन के बन्ध और मोक्ष में प्राण ही मुख्य साधन है।

यथा च—"**प्राणेन ह्येवाऽस्मिल्लोके अमृतत्वमाप्नोति**"।
कौशीतकी ब्राह्मण उपनिषद् ५ अ० ३ म० २

सृष्टि की उत्पत्ति, विनाश और स्थिति की गणना, नवीनता और पुराणता का भी यही आधार है। इसके बिना तीनों शरीर जड़ और चेतन सब निष्क्रिय होकर रह जायेंगे। इसके गुण, धर्म, स्वरूप को प्रकट करने वाला यह सर्ववन्दनीय, सर्व-उपास्य, सर्व-आराध्य, सर्वपालक-पोषक-रक्षक सब की जीवनक्रियागति का आधार यह प्राण देवता ही है।

तस्मै प्राणाय नमः। प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।

उपसंहार

इस 'प्राण-विज्ञान' ग्रन्थ में अपने अनुभव के आधार पर ७० प्रकार के प्राणों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। इन प्राणों द्वारा शरीर, आत्मा, प्रकृति और ब्रह्म की स्पर्श द्वारा अनुभूति मानी गई है। अन्यत्र ग्रन्थों में इस प्रकार से प्राणों का विस्तार-पूर्वक विवेचन बहुत कम मिलेगा। यह हमारी नवीनतम खोज है। ज्योति द्वारा तो पूर्वकाल में आत्मसाक्षात्कार के बहुत साधन उपलब्ध होते आए हैं। परन्तु प्राण द्वारा इस प्रकार स्पर्श करके आत्मसाक्षात्कार के साधन उपलब्ध नहीं होते हैं। पूर्वकाल में तो नेत्रों से आत्मोपलब्धि के प्रत्यक्ष की बात पढ़ने सुनने में आती रही थी, परन्तु अब प्रज्ञा-चक्षु भी प्राण द्वारा आत्म-स्पर्श करके अपने को कृतकृत्य कर सकेंगे।

इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता यह है कि प्राण के स्पर्श द्वारा सर्वप्रकार के जड़ और चेतन पदार्थों का प्रत्यक्ष सभी अभ्यासी साधक कर सकेंगे। इसमें प्राण द्वारा आत्मसाक्षात्कार के अनेक उपायों का कथन किया है।

स्थूल शरीर में ३० प्रकार के प्राणों का ज्ञान और उनके स्पर्श द्वारा शरीर और आत्मा के साक्षात्कार का वर्णन किया गया है। इसमें कोई भी देश या पदार्थ ऐसा नहीं रहता जिसका प्राण के स्पर्श द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान न होता हो।

इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में भी ३० प्रकार के प्राणों का ज्ञान और इनके द्वारा सूक्ष्म शरीर और आत्मा का साक्षात्कार प्राण के द्वारा बताया है। इनके साधन और विधियों का भी उल्लेख किया है।

कारण शरीर में ३ प्रकार के प्राणों का ज्ञान और इनके द्वारा सूक्ष्मतर कारण शरीर तथा आत्मा के अनुभव को प्रत्यक्ष रूप में होना माना है। इसके कई साधन भी बताए हैं और प्राण द्वारा स्पर्शानुभूति वर्णित है।

इसके अनन्तर ६ प्रकार के समष्टि पदार्थों में समष्टि प्राणों का उल्लेख किया है। उनका सम्बन्ध केवल ब्राह्मी सृष्टि से ही है। उन सब की प्रत्यक्षानुभूति समाधि द्वारा होती है। इसके उपरान्त प्रकृति की साम्यावस्था में सर्वप्राणों से अति सूक्ष्म प्राण का साक्षात्कार, उसकी उत्पत्ति, प्रकृति और ब्रह्म के संयोग से उसका प्रादुर्भाव, प्रकृति-पुरुष-विवेक और मोक्ष की प्राप्ति आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। भक्तों, साधकों, योगियों तथा प्राण-विज्ञान के अभ्यासियों को प्राण के स्पर्श द्वारा तीनों शरीरों, आत्मा, प्रकृति और ब्रह्म का साक्षात्कार होकर मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी। यह ग्रन्थ संसार के मनुष्य-मात्र के लिये महान् उपकारक और कल्याणकारी होकर उन्हें भवपाश से मुक्त करेगा।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

इति ब्रह्मनिष्ठराजयोगाचार्योपाधिधारिणा श्री योगेश्वरानन्द सरस्वतिस्वामिना प्रणीते प्राणविज्ञाने प्राण-स्वरूप-वर्णनात्मकोऽष्टमोऽध्यायः समाप्तः।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः।

ओ३म्

योग निकेतन

मुनि-की-रेती (ऋषिकेश), उत्तरकाशी, गंगोत्री, देहली और पहलगांव

—संस्थापक—

श्री १०८ ब्रह्मर्षि स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज
(भूतपूर्व राजयोगाचार्य श्री बालब्रह्मचारी व्यासदेवजी महाराज)

योग ही सार्वभौम धर्म है ।

योग निकेतन में अष्टांगयोग, अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के साधनों का विशेष रूप से क्रियात्मक अभ्यास कराया जाता है। योग का प्रत्येक जिज्ञासु साधक यहाँ आकर लाभ उठा सकता है।

संस्था में प्रवेश के नियम :—

(१) न्यूनतम शिक्षा :—
१. प्राज्ञ (संस्कृत) २. प्रथमा (संस्कृत) ३. भूषण (हिन्दी) ४. प्रथमा (हिन्दी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) ५. मैट्रिक अथवा हायर सेकण्डरी ।

(२) प्रवेश के समय आयु १५ वर्ष से कम और ६० वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए ।

(३) किसी भी नियत आसन पर कम से कम एक घण्टे तक स्थिर रूप से बैठने का और १० मिनिट तक त्राटक करने का अभ्यास होना चाहिए ।

(४) सात्विक भोजन (रोटी, चावल, सब्ज़ी, फल, दूध, शाकादि) अनिवार्य है ।

(५) धूम्रपान और उत्तेजक पदार्थों का सेवन निषिद्ध है ।

(६) प्याज, लहसुन, मांस भक्षण तथा सुरादि मादक द्रव्यों का सेवन वर्जित है।

(७) निम्न गुणों का होना आवश्यक है :—
१. तप २. त्याग ३. शम ४. दम ५. उपरति ६. तितिक्षा ७. ब्रह्मचर्य ।

(८) सभी जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों और देशों के योग-जिज्ञासु प्रवेश प्राप्त कर सकते हैं ।

(९) योगशिक्षा निःशुल्क दी जाती है। निवास स्थान के लिए भी किराया नहीं है। योगाभ्यासी से केवल बिजली और पानी का व्यय लिया जाता है।

१. **देहली योग निकेतन का दैनिक कार्य-क्रम—**

(योग निकेतन, ३०ए/७८, पञ्जाबी बाग, देहली—२६)

(१) प्रात:काल—६—०० से ६—३० बजे तक योग सम्बन्धी आध्यात्मिक उपदेश।
६—३० से ७—३० बजे तक धारणा-ध्यान-समाधि द्वारा आत्मज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान।

(२) सायंकाल —५—०० से ६—०० बजे तक आसन, प्राणायामादि का अभ्यास कराया जाता है।

(३) सायंकाल — ६—०० से ७—३० बजे तक उपदेश तथा ध्यान-समाधि द्वारा प्रकृति एवं पुरुषविवेक का साक्षात्कार।

यहाँ सम्पूर्ण वर्ष भर अध्यात्मयोगसाधना की शिक्षा-दीक्षा होती है। १५ वर्ष से ६० वर्ष की आयु वाले किसी भी जाति व देश के कोई भी स्त्री, पुरुष, धर्म की जिज्ञासा एवं आध्यात्मिक जीवन में रुचि रखने वाले व्यक्ति आश्रम की शिक्षा-दीक्षा से लाभान्वित हो सकते हैं। समस्त शिक्षा निःशुल्क दी जाती है।

२. **योग निकेतन, ऋषिकेश** में भी इसी प्रकार मिलता-जुलता प्राय: अभ्यास का कार्य-क्रम बारह मास चलता है। ऋषिकेश आश्रम में भी निवास के लिये स्थान बिना किराये के मिलता है। केवल बिजली का व्यय लिया जाता है। दो समय भोजन का खर्च ९०) रुपये लिया जाता है। यदि कोई साधक अपना बनाना चाहे तो बना सकता है। सर्वशिक्षा निःशुल्क दी जाती है।

३. **योग निकेतन, पहलगांव** (कशमीर) में १ जून से ३० सितम्बर तक साधना शिविर चलता है। अभ्यासी टैन्टों में रहते हैं। भोजन स्वयं बनाते हैं। शिक्षा निःशुल्क दी जाती है। किसी भी जाति, धर्म, वर्ण, देश-विदेश के, कोई भी स्त्री, पुरुष, १५ वर्ष से ६० वर्ष की आयु तक के, अभ्यासार्थ आ सकते हैं।

योग निकेतन ट्रस्ट
३०ए/७८, पञ्जाबी बाग, देहली—२६
अध्यक्ष—**श्री स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती**